अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

जनवरी-जुलाई, 1994 5-6

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

अपभ्रंश भारती

अर्द्धवार्षिक

शोध-पत्रिका

जनवरी-जुलाई, 1994

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री रतनलाल छाबड़ा
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री कपूरचन्द पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य :
40.00 सामान्यतः
75.00 पुस्तकालय हेतु

फोटोटाइप सैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट, जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	लोक और अपभ्रंश साहित्य	डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी	1
2.	रयणायरो व्व सोहायमाणु	कवि कनकामर	6
3.	पउमचरिउ और रामकथा-परम्परा	सुश्री मधुबाला नयाल	7
4.	णं अमरविमाणहिँ मणहरेहिँ	कवि कनकामर	16
5.	अध्यात्मरसिक कबीर की पृष्ठभूमि में मुनि रामसिंह	डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन	17
6.	फागु-काव्य : विधा और व्याख्या	डॉ. त्रिलोकीनाथ प्रेमी	27
7.	संदेश-रासक में शृंगार-व्यंजना	डॉ. इन्द्रबहादुर सिंह	37
8.	हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के दोहों में नारी-हृदय की धड़कनें	डॉ. वी. डी. हेगडे	55
9.	करकण्डुचरिउ में अणुपेक्खा: प्रयोजन दृष्टि	डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'	65
10.	अपभ्रंश भाषा से जनभाषा की विकास-प्रवृत्तियाँ	श्रीमती अपर्णा चतुर्वेदी 'प्रीता'	73

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येताओं के समक्ष अपभ्रंश भारती का पांचवां-छठा अंक सहर्ष प्रस्तुत है।

आज तो हिन्दी के बहुत से आलोचक रीतिकाल और भक्तिकाल की रचनाओं का बीज-सन्दर्भ आदिकाल की अपभ्रंश-रचनाओं में देखने लगे हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी व आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास-क्रम के ज्ञान के लिए अपभ्रंश साहित्य की उपादेयता असंदिग्ध है।

लोक-जीवन की ऐसी कोई विधा नहीं जिस पर अपभ्रंश भाषा में न लिखा गया हो। अपभ्रंश साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा **अपभ्रंश साहित्य अकादमी** की स्थापना की गई। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन को दिशा प्रदान करने के लिए अपभ्रंश रचना सौरभ, प्राकृत रचना सौरभ, अपभ्रंश काव्य सौरभ, पाहुडदोहा चयनिका आदि पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। अखिल भारतीय स्तर पर पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व पत्राचार अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा संचालित हैं। अपभ्रंश में मौलिक लेखन के प्रोत्साहन के लिए 'स्वयंभू पुरस्कार' भी प्रारम्भ किया गया है।

'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का प्रकाशन अपभ्रंश भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान व प्रचार के लिए उठाया गया एक कदम है। विद्वानों द्वारा अपभ्रंश साहित्य पर की जा रही शोध-खोज को 'अपभ्रंश भारती' के माध्यम से प्रकाशित करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस अंक में अपभ्रंश साहित्य के विविध पक्षों पर विद्वान लेखकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। हम उन सभी के प्रति आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। इस अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राईवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह है।

कपूरचन्द पाटनी
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

यह निर्विवादरूप से एतिहासिक सत्य है कि आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश से हुआ। हमारी पूर्ववर्ती परम्परा अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा रही, आज हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। भक्तिकाल/रीतिकाल पर अपभ्रंश का प्रभाव हिन्दी के विद्वान् स्वीकार करते हैं। हर समृद्ध साहित्य अपने अतीत से कुछ ग्रहण करता रहता है मात्र सैद्धान्तिक धरातल पर ही नहीं, व्यावहारिक धरातल पर भी, और व्यवहार का धरातल समाज का होता है, लोक का होता है। कहना न होगा कि अपभ्रंश के कवि लोक के मनोरंजन को ध्यान में रखते थे। इसके पीछे अपभ्रंश के कवियों की विवशता नहीं, युग एवं परिवेश की सामयिक माँग थी जिसे रचनागत धरातल पर किसी भी सचेतस सजग रचनाकार को प्रस्तुत करना ही था।

'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं। अपभ्रंश साहित्य इन लोकतत्त्वों से तथा भावनाओं से भरा पड़ा है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतीय वाङ्मय में संस्कृत-साहित्य विविध काव्य-रूपों और विधाओं की दृष्टि से जितना समृद्ध है उसका परवर्ती अपभ्रंश साहित्य अपेक्षाकृत और भी अधिक सम्पन्न रहा है। कारण, प्रथम जहाँ संस्कृत साहित्य काव्यशास्त्रीय विधाओं का ही अनुसरण-अनुकरण करता रहा है वहाँ अपभ्रंश की लोकानुरागिनी साहित्य-परम्परा ने एक पग और अग्रसर होकर लोक-साहित्य तथा लोक-शास्त्र की अनगिन अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त व्यंजना-शैलियों को अपनाकर सचमुच नूतन काव्य-संसार ही रचा डाला।

भारतीय लोक-जीवन में 'फागु' शब्द 'फागुन' या 'फाल्गुन' महीने से जुड़ा है और इसी महीने में बसन्त ऋतु की मादकता तथा मस्ती मानव एवं मानवेतर प्रकृति में अवलोकनीय होती है। बाहर और भीतर का उल्लास सहज सौन्दर्य की सृष्टि में सक्षम होता है। तभी तो जड़ प्रकृति रंग-बिरंगे-बहुरंगे परिधान में मुस्कुराती-लुभाती है और मनुष्य निस्पृह भाव से नाचता-गाता है। अपभ्रंश की यह काव्य-विधा अपने नाम के अनुरूप इस वैशिष्ट्यसे परिपूर्ण है। अतः कहा जा सकता है कि ये फागु-काव्य अपने प्रारंभ में नृत्य करते हुए गाये जाते होंगे, जैसाकि अपभ्रंश के जैन-मुनियों द्वारा ही प्रणीत 'रास' नामधारी काव्यों के सम्बन्ध में भी मिलता है।

लोक-जीवन में उद्भूत इन फागु-काव्यों में जहाँ बसन्त के मादक और उद्दीपनकारी परिवेश में श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग पक्ष का भरपूर चित्रण होता है वहाँ जैन मुनियों द्वारा प्रणीत इन फागु-काव्यों में श्रृंगार का चमत्कार तो प्रदर्शित किया ही जाता है, किन्तु अन्त की ओर बढ़ते हुए उनमें एक नया मोड़ उभरने लगता है; श्रृंगार का स्थान शान्त तथा निर्वेद लेने लगते हैं। सांसारिक काम के ऊपर सात्विक वैराग्य की यह विजय ही इन जैन फागु-काव्यों का मूल उद्देश्य है। अपभ्रंश के फागु-काव्य आकार में कहीं बड़े और कहीं छोटे होने पर भी उद्देश्य की पूर्णता, प्रकृति के साथ मानव-मन की भावात्मक एकता एवं उछाह को व्यंजित करने में नितान्त सक्षम

तथा लोक-माधुरी से ओत-प्रोत लघु प्रबन्धात्मक रचनाएं हैं। फागु-काव्य का विकास लोक-मानस की भाव-भूमि पर हुआ है। रासक-काव्य के समान संभवतः यह अपने आदि रूप में नृत्य-गीतपरक रहा होगा; कालावधि में यह साहित्यिक रूप धारण करता गया और इसकी संस्थापना अलकृंत-काव्य के रूप में हुई। इसमें गीतितत्त्व की प्रधानता मिलती है परन्तु कतिपय कृतियों में काव्य-तत्त्व का भी समावेश मिलता है।

हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन संत-परम्परा की पृष्ठभूमि में विशुद्धि तत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। योगीन्द्र इसके प्रस्थापक थे, मुनि रामसिंह संयोजक थे और कबीर ने इसके प्रचारक के रूप में काम किया था।

जैनधर्म सम्प्रदाय होते हुए भी सम्प्रदायातीत है और कदाचित् उसके इसी तत्व ने कबीर को आकर्षित किया हो। यही कारण है कि उनकी विचारधारा पूर्ववर्ती जैन संतों से बहुत मेल खाती है। मुनि रामसिंह हिन्दी साहित्य के आदिकालीन अपभ्रंश के अध्यात्म-साधक कवि रहे हैं जिन्होंने दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी साधना आत्मानुभूति अथवा स्वसंवेद्यज्ञान पर आधारित थी इसलिए उनके ग्रंथ 'पाहुडदोहा' में अध्यात्म किंवा रहस्यवाद के तत्त्व सहज ही दृष्टिगत होते हैं। मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा को संत-परम्परा की आधारशिला माना जा सकता है। संत-साहित्य की पृष्ठभूमि के निर्माण में रामसिंह के चिन्तन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी के विद्वानों ने आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य को मात्र धार्मिक साहित्य मानकर उसे उपेक्षित कर दिया जिससे हिन्दी संत-परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन का एक कोना अछूता-सा रह गया । समूची संत-परम्परा भले ही किसी न किसी धर्म से सम्बद्ध रही हो पर उनके चिन्तन के विषय बहुत अधिक पृथक् नहीं रहे। आत्मा-परमात्मा, कर्म-पाखण्ड, सांसारिक माया, सद्गुरु-सत्संग आदि जैसे विषयों पर सभी ने अपनी कलम चलाई है।

जैन मुनियों द्वारा प्रणीत अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः प्रबन्धपरक ही है और कथा-काव्यों की परम्परा का अनुगामी रहा है। परन्तु कथा-शिल्प इनका अपना तथा मौलिक है। इस प्रकार इनका कर्तृत्व कविता और कला, भाव और व्यंजना, कथा-संगठन और कल्पना एवं भाषा और बन्ध के मणिकांचन संयोग से अद्वितीय बन गया है।

संदेश-रासक जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है - रासक काव्य है। कथानक के आधार पर संदेश-रासक प्रेम-काव्य है। उसमें नायिका के विरह-निवेदन की प्रमुखता है। संदेश-रासक के कवि श्री अद्दहमाण ने यद्यपि रूप-वर्णन के लिए अधिकांशतः परम्परागृहीत उपमानों का ही आश्रय लिया है, फिर भी उन्होंने अपने हृदय-रस से स्निग्ध करके उसे वास्तविक और हृदयस्पर्शी बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाण ने स्वच्छन्द कल्पना-शक्ति का भी परिचय दिया है जो उनके संवेदनशील कवित्व का परिचायक है। संदेश-रासक में यद्यपि विरह के अन्तर्गत शारीरिक दशाओं का ही वर्णन अधिक हुआ है, किन्तु कवि ने उसे इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है कि वह हृदय में बहुत दूर जाकर गहरी संवेदना को जगाता है। बाह्य व्यापारों को चित्रित करने में भी संदेश-रासक की पदावली अत्यन्त प्रभावशालिनी है। कवि की भाव-प्रेरित अनुभूति-

स्पंदित वाणी सीधे अन्तस्थल तक पहुँचे बिना बीच में रुकना नहीं चाहती। कारण यह कि अद्दहमाण ने सदैव स्वाभाविकता और मार्मिकता का ध्यान रखा। साधारण कवियों की भाँति वे चमत्कार के लोभ में नहीं पड़े हैं। हृदय के गहरे-से-गहरे भावों को वे साधारण ढंग से व्यक्त करने में पटु हैं।

हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे लोकमानस के साक्षात फल हैं। अतः लोकसंपृक्ति उनका मूलद्रव्य है। उक्त कतिपय दोहों में नारी-हृदय की मधुर पीड़ा समाई हुई है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत दोहों में नारी न केवल विरहिणी के रूप में प्रकट हुई है; अपितु वीरांगना के रूप में भी दिखाई देती है। यदि विरहिणी-रूप नारी-हृदय की कोमलता का परिचायक है तो वीरांगना-रूप उसकी तेजस्विता का समुदघाटन कर देता है। वीरांगनाओं के इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि उन्होंने अपने पतियों में उत्साह की उमंगें बराबर भरी हैं और अपना सब-कुछ लुटाकर भी अपने पतियों का वीरत्व सुरक्षित रखा है और इसी में अपना वीरत्व भी प्रकाशित किया है। हैम व्याकरण के शृँगार एवं शौर्य-सम्बन्धी दोहों में नारी-हृदय की धड़कनें अपने पूर्ण लावण्य के साथ काव्यरूप ग्रहण किये हुए हैं। सामाजिक क्लीबता के निवारण के लिए उक्त दोहों का पुनः-पुनः पठन नितान्त आवश्यक है। उक्त दोहों में न केवल रसराज शृँगार का विश्वमोहक रूप प्रकट हुआ है, अपितु रसराजराज वीर का विश्वपोषक रूप प्रदर्शित हुआ है। वीरांगनाओं के उक्त मधुर एवं वीर हृदयोद्‌गारों ने न केवल अपने वीर-पतियों में शत्रु-सेना के हाथियों का कुम्भस्थल विदीर्ण करने की क्षमता उत्पन्न की है अपितु कायरता पर दिग्विजय प्राप्त करके क्लीबता के खण्डन के इतिहास में एक सुन्दर अध्याय जोड़ दिया है।

'पउमचरिउ' एक विशाल प्रबन्धकाव्य है जिसमें कवि-प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष प्राप्त होता है। रामकथा-परम्परा में अपने मौलिक कथा-प्रसंगों के कारण 'पउमचरिउ' उल्लेखनीय है। रामकथा की अपभ्रंश काव्य-परम्परा में स्वयंभू का 'पउमचरिउ' अपने मौलिक कथा-प्रसंगों, चरित्र-संगठन, शिल्पगत नूतनताओं विशेषतया उपमान प्रयोगों की दृष्टि से विशिष्ट है। पाँच काण्डों-विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में बँटी कथा के २० संधियों युक्त विद्याधरकाण्ड में ऋषभजिन-जन्म, जिन-निष्क्रमण, वानरवंश-उत्पत्ति, रावण-चरित आदि वर्णित हैं।

सद्‌काव्य चतुर्वर्ग का साधक है तथा सद्यः आनन्द या प्रीति उत्पन्न करना उसका विशिष्ट प्रयोजन है। भारतीय परम्परा अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को अपना लक्ष्य मानती है और काव्य भी इसी पुरुषार्थ को पुष्ट करता है। आनन्द के पूर्ण प्रस्फुटन का नाम मोक्ष है और सदकाव्य इसी अतीन्द्रिय आनन्द की सद्यः प्रतीति करता है। अतः सद्‌काव्य से बढ़कर शिवत्व या मोक्ष का साधक अन्य कोई साधन नहीं हो सकता । मुनि कनकामर विरचित करकण्डुचरिउ महाकाव्य का प्रधान प्रयोजन 'मोक्ष' पुरुषार्थ की सिद्धि करना, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति कराना रहा है। इस आनन्द की अनुभूति शान्त रस से ही हो सकती है। अतः कवि ने तत्त्वज्ञान, वैराग्य, हृदय-शुद्धि आदि विभावों; यम, नियम, अध्यात्म ध्यान आदि अनुभावों एवं निर्वेद, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारी भावों का वर्णन अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से किया है और सहृदय का 'शम' स्थायीभाव उद्‌बुद्ध कर शान्तरस की अनुभूति कराई है।

करकण्डुचरिउ में अनुप्रेक्षा का वर्णनकर आत्मार्थी को मानसिक दैनिक भोजन प्रदान किया है और संसार, शरीर व भोगों में लिप्त जगत को अनन्त सुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

जिन विद्वानों ने अपने लेख भेजकर हमें सहयोग प्रदान किया है हम उनके आभारी हैं, भविष्य में भी सहयोग की अपेक्षा करते हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

लोक और अपभ्रंश साहित्य

– डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी

•

सिरि जरखंडी लोअड़ी गलि मणि अड़ा न बीस ।
तोवि गोट्ठड़ा कराविआ मुद्धए उट्ठबईस ॥

यह साहित्य अपभ्रंश कवि द्वारा निबद्ध उस अकिंचना सुन्दरी के समान है जिसके सिर पर एक फटी पुरानी कमली थी, गले में दस-बीस गुरियों की माला थी फिर भी उसका सौन्दर्य ऐसा मनोहर था कि गोष्ठ के रसिकों को कितनी ही बार उठा-बैठी करने को बाध्य होना पड़ा – हिन्दी साहित्य का आदिकाल लिखते समय ये शब्द हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के। आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश से ही स्वीकार किया जाता है। हमारी पूर्ववर्ती परम्परा अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा रही, आज हिन्दी के भाषा वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। भक्तिकाल पर या रीतिकाल पर अपभ्रंश का प्रभाव हिन्दी के विद्वान् स्वीकार करते हैं। हर समृद्ध साहित्य अपने अतीत से कुछ ग्रहण करता रहता है मात्र सैद्धान्तिक धरातल पर ही नहीं, व्यावहारिक धरातल पर भी, और व्यवहार का धरातल समाज का होता है, लोक का होता है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने[1] लिखा है – "आदिकाल का सारा काव्य केवल वीरत्व की प्रशंसा में लिप्त लोक-वाह्य काव्य नहीं था। उसमें लोक की प्रचलित भावना वीरत्व के उल्लास का प्रतिपादन किया जाता था। कहीं लोक-शत्रु का नाश होता था, कहीं केवल वीरत्व

का प्रदर्शन। जहाँ कोई लोक-रक्षा मूलक हेतु न हो वहाँ कल्पित हेतु और लोक-रक्षण के स्थान पर लोक-रंजन को ही लक्ष्य करके कवि चलता है .... काव्य लोक से बद्ध था।''

कहना न होगा कि अपभ्रंश के कवि लोक के मनोरंजन को ध्यान में रखते थे। इसके पीछे अपभ्रंश के कवियों की विवशता नहीं, युग एवं परिवेश की सामयिक माँग थी, जिसे रचनागत धरातल पर किसी भी सचेतस सजग रचनाकार को प्रस्तुत करना ही था। आज की आधुनिक मानसिकता की भाँति कोई लोक को निरक्षर या अविकसित कहकर उससे पीछे हटनेवाले बुद्धिजीवी भी अपभ्रंश के पास नहीं थे। आज रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे रचनाकार भी यह स्वीकार करते हैं – ''हिन्दी का चरित्र, पहली बार ही बड़े मोहक रूप में भाषा और संवेदना के दोनों स्तरों पर 'पृथ्वीराज रासऊ' में निखरकर आया है।''[2]

साहित्येतिहासकारों में इस पर विवाद हो सकता है कि पृथ्वीराज रासो लौकिकता व्यञ्जित कर सकता है, किन्तु वह लोकपरक नहीं है, यहाँ पर मैं विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहूँगा कि आदिकालीन साहित्यिक सामग्री का अधिसंख्य (प्राकृत/अपभ्रंश) आज भी विवादित है, किन्तु आदिकाल के प्रखर अनुसंधित्सु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक और शुकी के द्वारा कहे गये हिस्सों को प्रामाणिक मानने का आग्रह करते हैं ? क्यों ? यह तो मैं नहीं बता सकता किन्तु इतना अवश्य है कि तोता-मैना, शुक-शुकी आज भी आभिजात्य या 'एलीट' साहित्य द्वारा नहीं अपनाए गये, न अपनाए जा सकते हैं। लोकमानस में इनकी रागात्मकता स्वत:सिद्ध है। यह कितनी भ्रामक अवधारणा है[3] कि योरोपीय इतिहास-लेखन में लोक संस्कृति का प्रयोग देखनेवाले भारत में इस दिशा में 'न के बराबर की पहल' के धारण के शिकार हैं, काश ! ऐसे लोग आदिकाल की साहित्यिक सामग्री को न सही गम्भीरतापूर्वक, सरसरी नज़र से ही देख लेते। रामस्वरूप चतुर्वेदी (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास लिखते समय) जब यह लिखते हैं – ''यों कुल मिलाकर ये रासो रचनाएं अभिनेय तो नहीं पर प्रदर्शनीय कला (परफोर्मिंग आर्ट) की श्रेणी में आ जाती हैं, जिनकी जड़ें लोक परम्परा में हैं, पर जो धीरे-धीरे शिष्ट काव्य के रूप में उग रही हैं।'' तो यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का विकास लोक परम्परा से ही सम्बन्धित है। यों यह तो स्पष्ट है कि बिना लोक में रमे साहित्य की रचना वायवीय सन्दर्भों को ही आकार देगी, उसमें कहीं भी जीवन की गहरी और सच्ची संवेदना नहीं मिलेगी। ये उदाहरण पर्याप्त होंगे –

पय सक्करी सुभत्तौ, एकत्तौ कनय राय भोयंसी ।
कर कंसी गुज्जरीय, रब्बरियं नैव जीवंति ॥

– यदि दूध-शक्कर और भात मिलाकर (बड़े घरों की) लड़कियाँ राजभोग बनाती हैं तो (गरीब) गूजरी क्या कण-भूसीवाली राबड़ी (मट्ठे की) से जीवन-निर्वाह न करें ?[4]

लोक बराबर परम्परा के प्रवाह के साथ जुड़ता रहा है, आस्थाएँ इस प्रवाह में जुड़ी तो बही भी, डॉक्टर हरिश्चन्द्र मिश्र का मानना है कि साहित्य के मूल संवेदनात्मक आधारों में अगर किसी

एक की पहचान से साहित्य की श्रेष्ठता पहचानी जाती है तो वह लोक है और हमारा सम्पूर्ण साहित्य कहीं न कहीं लोक से जाकर जुड़ता है चाहे वह संस्कृत का आदर्श हो या अपभ्रंश की ऐहिकता, लोक की उदारता से ही साहित्य की मूल संवेदना जुड़ी होती है।'

अपभ्रंश की रचनाओं के सन्दर्भ अधिकतर लोक से जुड़े हुए हैं। मेरी समझ से इसका एक बड़ा कारण रहा होगा युगीन संवेदना की बेबाक प्रस्तुति। बीसलदेव की नायिका राजमती जब यह कहती है कि – हे विधाता (महेश)! स्त्री-जन्म क्यों दिया ? अर्थात् अब मत देना, हाँ और कुछ भी बना देना लेकिन स्त्री-जन्म ……। आज की संवेदना से जब हम इन पंक्तियों को तौलते हैं तो क्या ऐसा नहीं लगता कि ये रचनाकार हमारी संवेदना के बहुत करीब थे। आज इक्कीसवीं सदी की अगवानी की जा रही है और यह संवेदना अपभ्रंश के एक कवि की है, देखें –

अस्त्रीय जनम कांई दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नटेस।
राणि न सिरजीय धउलीय गाइ।
वणखण्ड काली कोइली।
हउं बइसती अबां नइ चंपा की डाल।

यह एक रानी की व्यथा है जो बीसलदेव की नायिका है। बाद के अनेक ग्रन्थों में इसकी उपस्थिति हम महसूस कर सकते हैं। इतना ही नहीं बीसलदेव रासो का जागरूक रचनाकार लोक से किस कदर जुड़ा है यह मात्र वियोग और संयोग के वर्णनों को देखकर नहीं, बल्कि उसके इस कथन से लगाया जा सकता है –

दव का दाधा हो कूपल लेइ
जीभ का दाधा न पाल्हवइ॥

दावाग्नि में जले वृक्ष द्वारा नया रूप लेना सम्भव है। वह फिर हरा-भरा हो सकता है किन्तु कठोर वचनों से जला व्यक्ति कभी भी हरा नहीं हो सकता, प्रसन्न नहीं हो सकता। यहाँ लोक की गहराई के साथ-साथ परवर्ती कवियों द्वारा इसके अपनाने की प्रक्रिया भी पायी जा सकती है। कठोर वचनों की बात तुलसी से लेकर कबीर सभी ने की है, यह एक छोटा-सा उदाहरण है।

लोक-साहित्य का बहुत-सा अंश प्रक्षिप्त होते-होते विवादास्पद हो जाता है। यह किसी भी समृद्ध साहित्य या विशिष्ट रचनाकार के साथ उसके न रहने पर हुआ करता है। फलतः साहित्येतिहासकार रचनाकार के सन्दर्भ में तो उसकी बहुआयामी संवेदना और प्रतिभा का दर्शन कर लेते हैं लेकिन जब किसी समृद्ध साहित्य भाषा के ग्रन्थों के साथ प्रक्षिप्त जुड़ते हैं तो ग्रन्थ अप्रामाणिक या विवादास्पद बताये जाते हैं। अपभ्रंश का साहित्य इसका जीवन्त उदाहरण माना जा सकता है। यद्यपि अपभ्रंश के रचनाकारों के पास अनुभव की विशाल राशि थी, वे जन-जीवन से जुड़े थे, फिर भी वे यह मानते थे कि जो लोग पण्डित हैं, वे तो मेरे इस कुकाव्य पर ध्यान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं वे अपनी मूर्खता के कारण समझ नहीं सकेंगे अतः जो बीचवाले हैं अर्थात न पण्डित हैं, न मूर्ख, वे हमारे काव्य के चाहनेवाले होंगे –

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि ।
जिण मक्ख ण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढ़िब्बउ सब्बवार ।।[5]

कहना न होगा कि यह बीचवाला वर्ग ही सम की भावना से साहित्य की संवेदना को ग्रहण करता है, और यही कारण है कि अपभ्रंश की रचनाधर्मिता सदियों के बाद भी अपनी संवेदनधर्मिता, ताजगी एवं सन्दर्भों के कारण नित नूतन प्रतीत होती है। एक उदाहरण खुमाण-रासो का हम देखें तो यह पता चलता है कि इन रचनाकारों की दृष्टि कितनी सूक्ष्मता से किसी बात को मार्मिकता प्रदान करने में परम्परा का आश्रय ग्रहण करती थी। नायिका की विकलता का एक रूप यह भी है जो परम्परा के रूप में आज भी जीवित है, देखें -

पिउ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज ।
जोवै बाट बिरहिणी खिण-खिण अणवै खीज ।।

मनोदशाओं का यह स्वाभाविक चित्रण बिना लोक-संस्पर्श के सम्भव नहीं था। आदिकालीन जीवन का संस्पर्श अपभ्रंश की तथाकथित ऐतिहासिक या रासो कृतियों में ही नहीं वरन् उस समय के सिद्धों और नाथों की वाणियों में भी तत्कालीन अभिव्यक्ति का ठेठ रूप दिखायी पड़ता है। आज तो हिन्दी के बहुत से आलोचक रीतिकाल और भक्तिकाल की रचनाओं का बीज-सन्दर्भ आदिकाल की अपभ्रंश रचनाओं में देखने लगे हैं, मैं नहीं समझता कि यह 'लोक' के मिथक का कमाल है वरन मैं तो यह मानता हूँ कि ऐसा बहुत कुछ मायने में था भी - यह गोरखनाथ की वाणी है जो लोकमन की अपनी विशेषता है, यों उदाहरण के लिए पचीसों सिद्धों की वाणियों को लिया जा सकता है जो परवर्ती साहित्य से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य तक सम्बन्ध-सेतु का कार्य करते रहे। गोरखनाथ का यह उदाहरण देखें -

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरैं धरिबा पाँव
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणंत गोरख राँव ।।

यह सहज रहने का अपना तरीका है जो अपभ्रंश के रचनाकारों के पास था। लोक बराबर सहज रहा करता है।

यह सम्भव है कि बार-बार 'लोक' व्यवहृत करने से कुछ संदेह उत्पन्न हों कि लोक आखिर है क्या ? तो मैं साहित्य में लोक की उपस्थिति के लिए उन तत्वों की ओर संकेत करना चाहता हूँ जिनके लिए कहा गया है - "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।"[6]

हिन्दी का अपभ्रंश साहित्य इन लोकतत्त्वों तथा भावनाओं से भरा पड़ा है। अपनी इस टिप्पणी में अधिक विस्तार को महत्त्व न देते हुए इतना कहना चाहूँगा (अगर तुलनात्मक *दृष्टिकोण से देखा जायगा तो चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी माना,* हजारीप्रसादजी ने आदिकाल के अपने साहित्यिक विवेचन में अवसरानुकूल तथ्य दिये – कभी अपभ्रंश को गुलेरीजी के अनुसार स्वीकार किया तो कभी स्वतन्त्र रूप देकर, कभी अपभ्रंश को लोकभाषा माना तो कभी उसका विकास-सूत्र कहीं से जोड़ दिया इसकी तार्किक विवेचना रामविलास शर्मा ने अपने हिन्दी जाति का साहित्य नामक पुस्तक में 'देशी भाषा और अपभ्रंश' शीर्षक से किया है। लेकिन यहाँ पर मुझे भाषाई विवाद में नहीं पड़ना है क्योंकि यह एक अलग विषय हो सकता है, यहाँ पर मेरा अभीष्ट यह रहा है कि यदि अपभ्रंश साहित्य की समृद्ध परम्परा की छाया हम अपने उत्तरवर्ती साहित्य पर देख सकते हैं, कबीर और रीतिकाल तक प्रचारित-प्रसारित कर सकते हैं, परमालरासो को आल्ह-खण्ड का परिष्कृत रूप बता सकते हैं, जो आल्ह-खण्ड आज भी लोकमानस की मिथकीय यात्रा को सीधे अतीत से जोड़ देती है तो कोई कारण नहीं दिखाई देता कि हम यह कह सकें कि हमारा लोकपक्ष अपभ्रंश-काव्य परम्परा में नहीं था। इसे हजारी प्रसादजी/माताप्रसाद गुप्तजी से लेकर रामस्वरूप चतुर्वेदी तक किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। तब निश्चित तौर पर हम अपनी लोक परम्पराओं, संवेदनाओं तथा अनुभूतियों का साहित्यिक सूत्र अपभ्रंश से जोड़कर देख सकते हैं) कि शोधों के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस पर विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। हिन्दी के अध्येताओं का ध्यान अपभ्रंश की समृद्ध लोक-परम्परा की ओर जाय यह टिप्पणी उस दिशा में एक अनधिकारिक प्रयास है। अस्तु !

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ. 139।
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 31।
3. लोक संस्कृति और इतिहास, बद्रीनारायण, कथ्यरूप इतिहास पुस्तिका, पृ. 9।
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 65।
5. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 46।
6. हिन्दी साहित्य कोश, भाग एक, पृष्ठ 747।

सहायक सम्पादक, सरयूधारा
अजय प्रेस, नन्दना प.
बरहज बाजार
देवरिया, उ.प्र.-274601

रयणायरो व्व सोहायमाणु

दीवाण पहाणहिँ दीवदीवे जंबू दुमलंछिए जंबुदीवे ।
वेढियलवणण्णववलयमाणे जोयणसयसहसपरिप्पमाणे ।
वित्थिण्णउ इह सिरि भरहछेत्तु गंगाणइसिंधु हिँ विप्फुरंतु ।
छक्खंडभूमिरयणहँ णिहाणु रयणायरो व्व सोहायमाणु ।
एत्थत्थि रवण्णउ अंगदेसु महिमहिलईं णं किउ दिव्ववेसु ।
जहिँ सरवरि उग्गय पंकयाईं णं धरणिवयणि णयणुल्लयाईं ।
जहिँ हालिणिरूवणिवद्धणेह संचल्लहिँ जक्ख ण दिव्वदेह ।
जहिँ बालहिँ रक्खिय सालिखेत्त मोहेविणु गीयएँ हरिणखंत ।
जहिँ दक्खईं भुंजिवि दुद्दु मुयंति थलकमलहिँ पंथिय सुद्दु सुयंति ।
जहिँ सारणिसलिलि सरोयपंति अइरेहइ मेइणि णं हसंति ।

घत्ता – तहिँ देसि रवण्णईं धणकणपुण्णईं अत्थि णयरि सुमणोहरिय ।
जणणयणपियारी महियलि सारी चंपा णामईं गुणभरिय ॥

करकंडचरिउ 1. 3

– द्वीपों में प्रधान, द्वीपों के दीपक समान, जम्बू वृक्ष से लक्षित जम्बूद्वीप है, जो लवणसमुद्र से वलय के समान वेष्टित तथा प्रमाण में एक लाख योजन है। इस जम्बूद्वीप में विशाल श्री भरतक्षेत्र है, जो गंगा और सिन्धु नदियों से विस्फुरायमान है। वह छह खण्ड भूमिरूपी रत्नों का निधान होने से रत्नाकर के समान शोभायमान है। ऐसे इस भरत क्षेत्र में रमणीक अंग देश है, जैसे मानो पृथ्वी-महिला ने दिव्य वेष ही धारण किया हो। जहाँ के सरोवरों में कमल उग रहे हैं, मानो धरणी के मुख पर सुन्दर नयन ही हों। जहाँ किसान-स्त्रियों के रूप में स्नेहासक्त होकर दिव्य देहधारी यक्ष निश्चल हो गये हैं। जहाँ बालिकाएँ चरते हुए हरिणों के झुण्डों को अपने गीत से मोहित करके धान के खेतों की रक्षा कर लेती हैं। जहाँ पथिक दाख का भोजनकर अपने यात्रा के दुःख से मुक्त होते और स्थल कमलों पर सुख से सो जाते हैं। जहाँ की नहरों के पानी में कमलों की पंक्ति अति शोभायमान होती है, जैसे मानो मेदिनी हँस उठी हो। ऐसे धन-धान्य से पूर्ण उस रमणीक अंग देश में बड़ी मनोहर, जननयन-प्यारी, महीतल में श्रेष्ठ और गुणों से भरी हुई चम्पा नाम की नगरी है। अनु. – डॉ. हीरालाल जैन

पउमचरिउ और रामकथा-परम्परा

- सुश्री मधुबाला नयाल

•

रामकथा-परम्परा कभी समाप्त न होनेवाली ऐसी परम्परा है जो युगीन सन्दर्भों से जुड़कर अपनी सार्थकता सिद्ध करती रही है। विविध कवियों के हाथों रूप में यत्किंचित् परिवर्तन के बाद भी रामकथा की उपादेयता और लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया है।

रामकथा की अपभ्रंश काव्य-परम्परा में स्वयंभू का 'पउमचरिउ' अपने मौलिक कथा-प्रसंगों, चरित्र-संघट्टन, शिल्पगत नूतनताओं विशेषतया उपमान-प्रयोगों की दृष्टि से विशिष्ट है। पाँच काण्डों - विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड एवं उत्तर काण्ड में बँटी कथा के 20 संधियों युक्त विद्याधर काण्ड में ऋषभजिन-जन्म, जिन-निष्क्रमण, वानरवंश-उत्पत्ति, रावण-चरित आदि वर्णित हैं। रामचरित का आरम्भ महाकवि ने अयोध्या काण्ड से किया है।

'पउमचरिउ' के राजा दशरथ की चार रानियाँ - अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा हैं।[1] कैकेयी की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य रामकथा-ग्रन्थों के समान वनवास का कारण बनकर वह कथा को एक नया मोड़ ही नहीं देती प्रत्युत द्रोण की बहन के रूप में अपनी भूमिका का सफल निर्वाह करती है। उसके निवेदन पर ही द्रोणघन विशल्या को एक हजार अन्य कन्याओं के साथ लंका भेजते हैं। 'पउमचरिउ' में द्रोणाचल से औषधि लाये जाने का प्रसंग नहीं है, प्रत्युत् यहाँ द्रोण कौतुकमंगल नगर के राजा और विशल्या के पिता हैं। विशल्या के प्रभाव

से लक्ष्मण की देह से रावण द्वारा प्रक्षिप्त शक्ति स्वयमेव निकल जाती है और उसके सुगन्धित जल से लक्ष्मण स्वस्थ, सबल होते हैं।[2]

रामचन्द्र अपराजिता के, लक्ष्मण सुमित्रा के, भरत कैकेयी के एवं शत्रुघ्न सुप्रभा के पुत्र हैं। दशरथ के मित्र राजा जनक के एक पुत्र व एक पुत्री – भामण्डल एवं सीता हैं। विद्याधरों की उपस्थिति 'पउमचरिउ' में आद्यन्त है। कथा को नूतन मोड़ देने में उनकी भूमिका कदाचित् कम महत्त्वपूर्ण नहीं। भामण्डल को किसी देव द्वारा अपहृतकर विजयार्ध पर्वत श्रेणी में स्थित रथनूपुर चक्रवाल नगर में नन्दन वन के समीप फेंक दिया जाता है, जिसका पालन-पोषण राजा चन्द्रगति और रानी पुष्पावती करते हैं।

'पउमचरिउ' में अन्य रामकथा-ग्रन्थों के समान विश्वामित्र की उपस्थिति नहीं है, न ही मुनियों एवं यज्ञ-रक्षण हेतु राम-लक्ष्मण उनका अनुगमन करते हैं।[3] वे जैनों के बलदेव और वासुदेव हैं –

तासु पुत्त होसन्ति धुरन्धर । वासुएव-वलएव धणुद्धर ।[4]

– उनके धनुर्धारी बलदेव और वासुदेव धुरन्धर पुत्र होंगे ।

बर्बर, शबर, पुलिंद तथा म्लेच्छों की सेना से घिरे राजा जनक की वे पिता की आज्ञा से सहायता करते हैं, जिससे प्रसन्न हुए राजा जानकी को राम के लिए अर्पित करते हैं।

सीता के रूप-सौन्दर्य पर केवल रावण ही नहीं, प्रत्युत् नारद, भिल्लराज रूद्रभूति और कालान्तर में (अपने एवं सीता के वास्तविक संबंध से अनभिज्ञ) भामण्डल भी आकर्षित होते हैं। अमर्ष से क्रुद्ध अनुचरों द्वारा धक्के देकर बाहर निकाले गये नारद सीता का चित्र भामण्डल को दिखाते हैं। पट में प्रतिमा देखकर कुमार कामदेव के पंचबाणों से बिद्ध हो उठता है –

दिट्ठ जं जें पडें पडिम कुमारें। पंचहिं सरहिं विद्धु ण मारें ।[5]

– कुमार ने जैसे ही पट में प्रतिमा देखी तो मानो उसे कामदेव ने पाँचों तीरों से विद्ध कर दिया।

राजा चन्द्रगति अपने पुत्र की दशा देख चपलवेग विद्याधर को राजा जनक के अपहरण का आदेश देते हैं। अपहृतकर लाये गए जनक से चन्द्रगति स्वजनत्व करने का प्रस्ताव रखता है जिसे वे –

दिण्ण कण्ण मइं दसरह-तणयहो (मेरे द्वारा दशरथ-पुत्र के लिए कन्या दे दी गई) – कहकर ठुकरा देते हैं (21.11.4)।

स्वयंवर-प्रसंग 'पउमचरिउ' में यत्किंचित् भिन्न है। राम एवं लक्ष्मण यहाँ वज्रावर्त एवं समुद्रावर्त नामक अत्यन्त दुर्जय भाववाले दो धनुषों को आयाम के साथ चढ़ाते हैं। ये दोनों धनुष राजा चन्द्रगति के राज्य से मिथिला लाये जाते हैं। राम का विवाह सीता से होता है और राजा शशिवर्द्धन अपनी अठारह कन्याओं में से आठ लक्ष्मण को और दस छोटे भाइयों को अर्पित करते हैं। इसी स्वयंवर में राजा द्रोण विशल्या को लक्ष्मण के लिए संकल्पित करते हैं।[6]

'पउमचरिउ' के राजा दशरथ कैकेयी को वर देते हुए विषण्ण नहीं होते, अपितु गर्वसहित राम-लक्ष्मण को पुकारकर –

जइ तुहुँ पुत्तु महु, तो एत्तिउ पेसणु किज्जइ
छत्तइँ बइसणउ, वसुमइ भरहहो अप्पिज्जइ ।[7]

– यदि तुम मेरे सच्चे पुत्र हो तो सिंहासन, छत्र और पृथ्वी भरत को अर्पित कर दो – आदेश देते हैं।

'पउमचरिउ' के लक्ष्मण का इस अवसर पर प्रदर्शित क्रोध वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण की तुलना में सन्तुलित है। उनकी तुलना में भरत अधिक कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं।[8] राजा के प्रव्रज्या हेतु निकलने पर भरत भी उनके साथ संन्यास-ग्रहण की इच्छा करते हैं, जिस पर पिता उन्हें डाँटते हैं –

किं पहिलउ पट्टु पडिच्छिउ।[9]

– पहले तुमने राजपट्ट की इच्छा क्यों की ?

काव्य में लक्ष्मण की भूमिका उन्हें नायकत्व का अधिकारी बनाती है। वे राम का अनुगमन तो करते हैं पर मात्र अनुचर न रहकर अनेक अवसरों पर स्वतंत्र निर्णय लेते हैं। चित्रकूट के पश्चात् राम-लक्ष्मण का जानकीसहित सहस्रकूट जिन-भवन में प्रवेश, जिनवरों की वन्दना, वज्रकर्ण पर प्रसन्न हुए राम का लक्ष्मण को सिंहोदर-निवारण का आदेश, विख्यात वज्रकर्ण और सिंहोदर का लक्ष्मण को तीन सौ कन्याएं अर्पित करना कथा के आगामी प्रसंग हैं।

'पउमचरिउ' के राम लक्ष्मण के साथ ही विविध नगरों में प्रविष्ट होते हैं। कूबर नगर का राजा पुरुषवेशधारी कल्याणमाला है जो कुमार लक्ष्मण पर आसक्त हो उन्हें राम-सीतासहित आमंत्रित करता है। राम और लक्ष्मण सरोवर में अपनी पत्नियों के साथ देवक्रीड़ा करते हैं –

तहिं सर णहयलें स - कलत्त वे वि हरि - हलहर,
रोहिणि – रण्णहिं णं परिमिय चन्द-दिवायर ।[10]

राजा बालिखिल्य को रूद्रभूति की कारा से मुक्त करवाकर वासुदेव और बलदेव मुनिवर के समान योग लेकर स्थित होते हैं। विन्ध्य-महीधर से आया पूतन यक्ष आधे पल में ही उनके लिए नगर निर्मित करता है और उन्हें सुघोष नामक वीणा, आभरणसहित मुकुट विलेपन, मणिकुण्डल, कटिसूत्र और कंकण प्रदान करता है।[11]

जीवंत नगर में आत्महत्या हेतु उद्यत वनमाला से लक्ष्मण विवाह करते हैं और कालान्तर में वनान्तर में राम का घर बनाकर तुलालग्न में लौटने का वचन देते हैं। गोदावरी नदी से आगे क्षेमांजलि नगर के सुरशेखर उद्यान में राम-सीता को छोड़ नगर में प्रविष्ट हुए लक्ष्मण को भटशवों का भयंकर विशाल समूह दिखाई देता है। अरिदमन और उसकी पुत्री जितपद्मा का मानमर्दन कर वे उससे वरमाल प्राप्त करते हैं। वंशस्थल नगर में मुनियों पर उपसर्ग होता देख राम-लक्ष्मण

उनका शमन करते हैं एवं गरुड़ से सात सौ शक्तियोंसहित सिंहवाहिनी तथा तीन सौ शक्तियों-सहित गरुड़वाहिनी विद्या प्राप्त करते हैं।

राम मुनिवर कुलभूषण से पाँच महाव्रतों, पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों का फल सुनते हैं तथा जिनपूजा और जिनाभिषेक करते हुए सैकड़ों दिगम्बर मुनियों को आहार करवाकर दीनों को दान देते हैं। उनके दण्डकारण्य में रहते हुए मुनिगुप्त एवं सुगुप्त का वहाँ आगमन होता है। प्रसन्न मुनिगण के प्रभाव से देव साढ़े तीन लाख अत्यन्त मूल्यवान रत्नों की वृष्टि करते हैं।[12] दान-ऋद्धि देख खगेश्वर जटायु को पूर्वजन्म का स्मरण हो आता है। रत्नों के प्रकाश से आलोकित उसके पंख सोने के, चोंच विद्रुम की, कण्ठ नीलमणि के समान, पैर वैदूर्य मणियों के और पीठ मणियों की हो जाती है। लक्ष्मण उन मणिरत्नों से रथवर की रचना करते हैं। हजारों मणिरत्नों से रचित जंगली हाथियों से जुते उस रथ की धुरा पर लक्ष्मण और भीतर राम बैठकर धरती पर भ्रमण करते हैं।[13]

पंचवटी-प्रसंग भी इस काव्य में भिन्न रूप में उपस्थित है। सूर्पणखा यहाँ चन्द्रनखा है जो पाताल लंका के राजा खर की (रामचरित मानस के समान बहन नहीं) पत्नी है।[14] अपने पुत्र शम्बूक के खड्ग-प्राप्ति का काल समीप आया जान, मंगल साज सजाये वह वंशस्थल के समीप पहुँचती है, वहाँ पुत्र का कटा हुआ सिर देख प्रतिशोधभाव से भरी राम-लक्ष्मण के समीप पहुँचती है। किन्तु, उनके सौन्दर्य पर लुब्ध हो सुर-सुन्दरी का रूप धारणकर उच्च स्वर में क्रन्दन करती वह सीता का ध्यान आकृष्ट करने में सफल होती है। यहाँ लक्ष्मण चन्द्रनखा को नासा-विहीन नहीं करते प्रत्युत उसके पक्ष को चुनौती देते हैं।[15] दीनमुख, रुदन करती चन्द्रनखा स्वयं अपने नखों से अपना वक्ष विदारित कर खर-दूषण के सम्मुख जाती है।[16] दूषण रावण को सन्देश प्रेषितकर स्वयं युद्धरत होता है। 'पउमचरिउ' के लक्ष्मण वंशस्थल से सूर्यहास नामक खड्ग प्राप्त करते हैं। खेल-खेल में किये गये प्रहार से वंशस्थल से एक कटा सिर उछलता है जिसे देख हत्या के लिए स्वयं को धिक्कारते हुए लक्ष्मण राम से वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

रामायणी कथा-क्रम अपनाते हुए भी स्वयम्भूदेव ने इस स्थल पर क्रम में परिवर्तन किया है। खर-लक्ष्मण-युद्ध के मध्य रावण युद्धस्थल में पहुँचता है और अवलोकिनी विद्या की सहायता से राम-लक्ष्मण का गुप्त संकेत (सिंहनाद) जान लेता है।[17]

'पउमचरिउ' में राम सीता को एकाकी छोड़ लक्ष्मण की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं, जिन्हें लक्ष्मण द्वारा सीता-हरण की आशंका व्यक्तकर आश्रम की ओर लौटाया जाता है। रावण के प्रहार से निर्दलित जटायु को राम पाँच बार णमोकार मन्त्र का उच्चारण कर आठ मूलगुण देते हैं।[18]

रावण सीता को पुष्पक विमान पर चढ़ा लंका नगर की शोभा दिखाता है। अन्ततः उसे अशोकमालिनी बावड़ी के समीपवर्ती प्रदेश में प्रतिष्ठित कर चला जाता है। वानरों द्वारा राम की शक्ति के सम्बन्ध में शंका व्यक्त करने पर लक्ष्मण कोटि-शिला का संचालन करते हैं। स्वयं सीता को राम से अधिक लक्ष्मण की शक्ति पर विश्वास है – राम से नहीं, केवल तुम्हारे भुजयुगल से रावण का वध होगा ।[19]

'रामचरितमानस' की भाँति 'पउमचरिउ' की राम-सेना विमान-विहीन नहीं। हनुमान पद्मप्रभ विमान पर सुशोभित होते हैं और विभीषण राम-लक्ष्मण के लिए विद्युतप्रभ और मेघप्रभ विमान प्रदानकर स्वयं के लिए रविप्रभ एवं शशिप्रभ विमान रखता है।[20] युद्ध में रावण विभीषण पर शक्ति-प्रहार करता है जिसे लक्ष्मण अपने हृदय पर झेलते हैं और मूर्च्छित हो गिर पड़ते हैं। लक्ष्मण की मूर्च्छा के समाचार पर सीता भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है।

'पउमचरिउ' में लक्ष्मण के जीवन-रक्षण में समर्थ विशल्या अयोध्या में उपलब्ध होती है। 'आनन्द रामायण' एवं 'साकेत' में भी हनुमान को विशल्यकरणी औषधि अयोध्या में ही मिलती है।[21] द्रोण और विशल्या यहाँ पर्वत और औषधि नहीं, सजीव मानव देहधारी हैं। 'साकेत' में राम-रावण युद्ध की सूचना पा अयोध्यावासी उत्तेजित[22] हो युद्ध के लिए प्रस्तुत होते हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने सम्भवतः इस प्रसंग की प्रेरणा 'पउमचरिउ' से प्राप्त की होगी, यहाँ भरत के रणभेरी बजाते ही असंख्य सेना सजने लगती है।

विशल्या के स्नानजल से स्वस्थ हुए लक्ष्मण जाम्बवन्त के परामर्श पर उसका पाणिग्रहण करते हैं। इस सूचना से चिन्तित हुआ रावण बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि के लिए शान्तिनाथ मन्दिर में जाकर ध्यान करता है। फाल्गुन में नन्दीश्वर व्रत के आगमन पर नगर में हिंसा रोक दी जाती है। राम-रावण के मध्य सात दिनों तक चले अनिर्णीत युद्ध के पश्चात् लक्ष्मण स्वयं युद्धरत होते हैं।

वासुदेव और प्रतिवासुदेव (रावण) के मध्य हो रहे युद्ध के बीच शशिवर्द्धन की कन्याएं आकाश से नीचे उतरती हैं। दस दिन तक युद्ध कर अवलोकिनी विद्या – "**लंकेसर महु एत्तडिय सत्ति**" [लंकेश्वर ! मेरी इतनी ही शक्ति है। (75.20.2)] – कहकर लुप्त हो जाती है। लक्ष्मण की वधेच्छा से प्रेरित हुआ रावण उन पर चक्र-प्रहार करता है किन्तु वासुदेव का आयुध चक्र आकर उनके हाथ पर बैठ जाता है। वासुदेव लक्ष्मण उसी चक्र से रावण का वक्षस्थल खण्डित करते हैं।[23] रावण-वध पर क्षुब्ध विभीषण छुरी से आत्महत्या हेतु उद्यत होते हैं और ससंज्ञ हो करुण विलाप करते हैं। विभीषण के साथ ही राम-लक्ष्मण एवं वानर-समूह भी रुदन करता है। लोकाचार के निर्वाह के लिए स्वयं राम दशानन के लिए जल देते हैं। मन्दोदरी सपरिवार सर्व परिग्रह त्यागकर पाणिपात्र आहार ग्रहण करती है। रावण-पुत्र इन्द्रजीत, मेघवाहन, मय, कुम्भकर्ण, मारीच आदि संन्यास लेते हैं।[24]

अन्य राम-काव्यों के समान राम-लक्ष्मण विभीषण का अभिषेक कर शीघ्र ही अयोध्या नहीं लौटते, अपितु छः वर्ष तक लंका में रहते हैं। इस कालावधि में लक्ष्मण की समस्त पत्नियाँ – कल्याणमाला, वनमाला, जितपद्मा, सोमा आदि लंका पहुँच जाती हैं। नारद द्वारा माता अपराजिता की वेदना जान राम अयोध्या लौटते हैं। विभीषण अपने निर्माणकर्ता भेजकर स्वर्ण से अयोध्यानगरी का पुनर्निर्माण कराता है।[25]

विरत भरत को तपोवन जाने से रोकने के लिए राम के आदेश पर जानकी आदि सुन्दरियाँ उनके साथ सरोवर में जल-क्रीड़ा करती हैं। कैकेयी भी केश लोंचकर दीक्षा-ग्रहण करती है।

रघुनन्दन को राजपट्ट बाँधे जाने के बहुत दिनों बाद भरत का निधन हो जाता है। लक्ष्मण को तीन खण्ड धरती और शत्रुघ्न को मथुरा नगरी प्रदान की जाती है।

सीता-निर्वासन प्रसंग वाल्मीकि एवं आनन्द रामायण के समान यहाँ भी उपलब्ध है। परित्यक्ता सीता के शाप के भय से देवलोक वज्रजंघ (वाल्मीकि नहीं) की भेंट सीता देवी से करा देता है जो उन्हें अपनी बहन घोषितकर पुण्डरीक नगर ले जाता है। सीता के पुत्रों – लवण का कनकमाला और अंकुश का तरंगमाला से विवाह होता है। नारद द्वारा प्रेरित किये जाने पर सीता-पुत्र अयोध्या पर आक्रमण करते हैं। राम और लवण के मध्य हो रहे युद्ध में राम द्वारा संचालित अस्त्र लवण तक नहीं पहुँचते। फलतः लक्ष्मण लवण और अंकुश के वध हेतु अपना चक्र घुमाकर मारते हैं। आशा के विपरीत वह चक्र लवण-अंकुश की तीन प्रदक्षिणाएं देकर लक्ष्मण के पास वापस आ जाता है।

राम द्वारा भेजे गए पुष्पक विमान पर आरूढ़ होने के पूर्व सीता राम को उपालम्भ देती है – 'पत्थर हृदय राम का नाम मत लो। उनसे मुझे कभी सुख नहीं मिला, मैं यह जानती हूँ।'[26]

अग्नि-परीक्षा-प्रसंग 'पउमचरिउ' में उत्तरकाण्ड में है। अन्त में, वह अग्नि नव कमलों से आवृत्त सरोवर में बदल जाती है। सीता अपने सिर के केश दायें हाथ से उखाड़कर रामचन्द्र के सम्मुख डाल देती है और सर्वभूषण मुनि के पास जाकर दीक्षा ले लेती है।[27]

लक्ष्मण के आठ पुत्र राम के पुत्रों से क्षुब्ध हो महाबल महामुनि के पास जाकर दीक्षा ले लेते हैं।[28] भामण्डल की मृत्यु मस्तक पर बिजली गिरने से होती है। राम-लक्ष्मण के दुर्लभ-प्रेम के कारण ईर्ष्यायुक्त हुए देवगण लक्ष्मण को जैसे ही – 'रामचन्द्र मर गए' कहते हैं कि लक्ष्मण 'अरे राम के क्या हो गया' कहते-कहते देह-त्याग देते हैं – खुली हुई आँखें ! एक दम अडोल शरीर ![29] लक्ष्मण की मृत्यु पर विषण्ण लवण-अंकुश भी जिन-धर्म में दीक्षित होते हैं। अनन्य प्रेम के कारण राम लक्ष्मण का दाह-संस्कार करने को तैयार नहीं होते अपितु उन्मत्त की भाँति सामन्तों से कहते हैं – 'अपने स्वजनों के साथ तुम जल जाओ, तुम्हारे माँ-बाप जलें, मेरा भाई तो चिरंजीवी है। लक्ष्मण को लेकर मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ दुष्टों के ये वचन सुनने में न आवें।'[30] लक्ष्मण की मृत देह को चूमते, प्रलाप करते राम उन्हें कन्धों पर रख स्नानागार में ले जा स्नान कराते हैं, उन्हें मणि-रत्नों के आभूषणों से सुसज्जित कर उनके मुँह में कौर देते हैं और आधे वर्ष तक अपने कन्धों पर शव ढोते फिरते हैं। स्वयंभूदेव ने यथार्थ चरित्र-सृष्टि की है। अत्यन्त सामान्य मनुष्य की भाँति राम भी अपने प्रिय की मृत्यु सहज स्वीकार नहीं करते।

इसी अवधि में इन्द्रजीत और खर के पुत्र अयोध्या पर आक्रमण करते हैं। रथारूढ़ राम भाई को गोद में लेकर वज्रावर्त धनुष तानते हैं। अन्त में, बोध प्राप्त होने पर वे उनका सरयू-तट पर अन्तिम संस्कार करते हैं। लवण के पुत्र को राज्य-भार सौंपकर राम सुव्रत ऋषि के समीप जा दीक्षा-ग्रहण करते हैं। राम की माताएँ, शत्रुघ्न तथा सोलह हजार राजा, सत्ताईस हजार स्त्रियाँ भी दीक्षा लेती हैं।[31]

स्नेह से व्याकुल लक्ष्मण को नरक का भागी बनना पड़ता है।[32] परम्परागत मान्यताओं के कारण जैन-ग्रन्थों में भी नायक राम ही हैं, पर वे लक्ष्मण की प्रेरक शक्ति हैं।[33] 'पउमचरिउ' के लक्ष्मण का वर्ण 'गौर' नहीं,[34] मरकत मणि के समान है।[35] कवि स्वयंभू राम के वर्ण के संघात से लक्ष्मण का वर्ण हरा-मरकत मणि-सा चित्रित करते हैं। कथा-प्रसंगों के अतिरिक्त वे उपमान-प्रयोग में भी मौलिकता का परिचय देते हैं; उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं की वे झड़ी-सी लगा देते हैं चाहे प्रसंग कारुणिक[36] हो या प्रणय[37] का।

'पउमचरिउ' एक विशाल प्रबन्ध काव्य है जिसमें कवि-प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष प्राप्त होता है। 'पउमचरिउ' अपभ्रंश साहित्य का जैन भक्तिपरक ग्रन्थ है फलतः कवि ने कथा का प्रारम्भ ऋषभ-जिन-जन्म के साथ किया है। यथाअवसर जिन भक्ति,[38] पंच महाव्रतों, अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों की महत्ता का प्रतिपादन[39] करने में भक्त कवि चूकता नहीं है। कवि काव्य-सौन्दर्य-वृद्धि के लिए भी यत्र-तत्र जिन-भक्तिपरक उपमानों का प्रयोग करता है –

सीहोरालि-समुट्ठिय कलयलु । णाईं पढइ मुणि-सुव्वय-मङ्गलु।[40]

– सिंहों की गर्जनाओं से उठा हुआ कलकल शब्द ऐसा लगता था मानो वह मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मंगल पाठ पढ़ रहा है।

जं पइसंत पदीसिय मुणिवर । सावय जिह तिह पणविय तरुवर।[41]

– जब उन्होंने मुनि को प्रवेश करते हुए देखा तो वृक्षों ने श्रावकों की तरह उन्हें प्रणाम किया।

सज्जियाइँ चउ हंस विमाणइँ । जिणवर-भवणहो अणुहरमाणइँ।[42]

– चारों हंस-विमान सजा दिये गये जो जिनवर-भवनों के समान थे।

रामकथा के अधिकांश पात्र काव्य-ग्रन्थ में जिन-धर्म में दीक्षित होते हैं।[43] यों तो तुलसी ने भी रामचरितमानस में राम द्वारा शिवपूजा-वन्दना करवाई है किन्तु इससे पूर्व कवि स्वयम्भू ने पूजा-वन्दना-परम्परा का पउमचरिउ में सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। स्वयम्भूदेव का लक्ष्य रामकथा के माध्यम से जिन-भक्ति का प्रचार एवं जैन-दर्शन की सार्थकता सिद्ध करना है। इसमें वे सफल भी हुए हैं किन्तु राम-कथा-परम्परा में अपने मौलिक कथा-प्रसंगों के कारण 'पउमचरिउ' उल्लेखनीय है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

1. पउमचरिउ, महाकवि स्वयम्भू, 21.4।
2. पउमचरिउ, 69.17.2-3।
3. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 22.13; अध्यात्म रामायण, बालकाण्ड, 5.25; मानस, बालकाण्ड पृ. 218; रामचन्द्रिका, 2.28; अवध विलास, विश्वामित्र-यज्ञ, पृ. 131।
4. पउमचरिउ, 21.1.3।

5. पउमचरिउ, 21.9.1।
6. पउमचरिउ, 21.14।
7. पउमचरिउ, 22.8.9।
8. पउमचरिउ, 22.10।
9. पउमचरिउ, 24.5.7।
10. पउमचरिउ, 26.14।
11. पउमचरिउ, 28.17।
12. पउमचरिउ, 35.1.1।
13. पउमचरिउ, 36.1.1-2।
14. पउमचरिउ, 36.4-10।
15. पउमचरिउ, 37.2.8।
16. पउमचरिउ, 37.3.4।
17. पउमचरिउ, 37.13.3।
18. पउमचरिउ, 39.2.1।
19. पउमचरिउ, 50.13.9-10।
20. पउमचरिउ, 60.4.6-7।
21. आनन्द रामायण, सार काण्डम्, 47-54; साकेत, एकादश सर्ग, 293।
22. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ. 297-315।
23. पउमचरिउ, 75.22.9-10।
24. पउमचरिउ, 78.5.1-2।
25. पउमचरिउ, 78.18.2-7।
26. पउमचरिउ, 83.6.1-2।
27. पउमचरिउ, 83.18.1-8।
28. पउमचरिउ, 86.10.3-11।
29. पउमचरिउ, 87.7.1-5।
30. पउमचरिउ, 88.1.12।
31. पउमचरिउ, 88.11.1-10।
32. पउमचरिउ, 89.1.3-4।
33. डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयम्भू, पृ. सं. 184।
34. वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, 35.22-23; आनन्द रामायण, सारकाण्डम्, 216; मानस, बाल काण्ड, 220, 221.4।

35. पउमचरिउ, 38.12.1।

36. पउमचरिउ, 6.5.1-9; 75.7.1-8; 76.12.1-9।

37. पउमचरिउ, 26.10.1-11; 26.14.4-9।

38. पउमचरिउ, 66.44.3।
'वेण्णि वि जिण-णामें णमिय-सिर'

39. पउमचरिउ, 32.7.1-10; 34.1-9।

40. पउमचरिउ, 34.10.8।

41. पउमचरिउ, 34.12.1।

42. पउमचरिउ, 60.4.3।

12, हंस निवास
मल्लीताल, नैनीताल

णं अमरविमाणहिँ मणहरेहिँ

जा वेढिय परिहाजलभरेण णं मेइणि रेहइ सायरेण ।
उत्तुंगधवलकउसीसएहिँ णं सग्गु छिवइ वाहूसएहिँ ।
जिणमन्दिर रेहहिँ जाहिँ तुंग णं पुण्णपुंज णिम्मल अहंग ।
कोसेयपडायउ घरि लुलंति णं सेयसप्प णहि सलवलंति ।
जा पंचवण्णमणिकिरणदित्त कुसुमंजलि णं मयणेण धित्त ।
चित्तलियहिँ जा सोहइ घरेहिँ णं अमरविमाणहिँ मणहरेहिँ ।
णवकुंकुमछडयहिँ जा सहेइ समरंगणु मयणहो णं कहेइ ।
रत्तुप्पलाइँ भूमिहिँ गयाइँ णं कहइ धरंती फलसयाइँ ।
जिणवासपुज्जमाहप्पएण ण वि कामुय जित्ता कामएण ।

करकंडचरिउ 1.4

वह चम्पा नगरी जल-भरी परिखा से घिरी होने के कारण, सागर से वेष्टित पृथ्वी के समान शोभायमान है। वह अपने ऊँचे प्रासाद-शिखरों से ऐसी प्रतीत होती है मानो अपनी सैकड़ों बाहुओं द्वारा स्वर्ग को छू रही हो। वहाँ विशाल जिनमंदिर ऐसे शोभायमान हैं मानो निर्मल और अभंग पुण्य के पुंज ही हों। घर-घर रेशम की पताकाएँ उड़ रही हैं मानो आकाश में श्वेत सर्प सलबला रहे हों। वह पचरंगे मणियों की किरणों से देदीप्यमान हो रही है मानो मदन ने अपनी कुसुमांजलि ही चढ़ायी हो। वह चित्रमय घरों से ऐसी शोभायमान है जैसे मानो वे देवों के मनोहर विमान ही हों। नयी केशर की छटाओं की वहाँ ऐसी शोभा है कि मानो वह कह रही हो कि मदन का समरांगण यही तो है। वहाँ स्थान-स्थान पर रक्त-कमल बिखरे हुए हैं, मानो वह पुकार-पुकारकर कह रही है कि मैं ही सैकड़ों प्रकार के फलों को धारण करती हूँ। वहाँ भगवान वासुपूज्य के माहात्म्य से पुरुष कामी होकर कामदेव द्वारा जीते नहीं जाते।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

अध्यात्मरसिक कबीर की पृष्ठभूमि में मुनि रामसिंह

– डॉ (श्रीमती) पुष्पलता जैन

•

मुनि रामसिंह हिन्दी साहित्य के आदिकालीन अपभ्रंश के अध्यात्म-साधक कवि रहे हैं जिन्होंने दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी साधना आत्मानुभूति अथवा स्वसंवेद्यज्ञान पर आधारित थी इसलिए उनके ग्रंथ 'पाहुडदोहा' में अध्यात्म किंवा रहस्यवाद के तत्त्व सहज ही दृष्टिगत होते हैं।

स्व. डॉ. हीरालाल जैन ने मुनि रामसिंह का समय सं. 1100 ई. से पूर्व माना है।[1] पाहुडदोहा के कुछ दोहे हेर-फेर के साथ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ प्राकृत व्याकरण में उद्धृत किये हैं जो 1093 और 1143 ई. के बीच लिखा गया। अपभ्रंश के पूर्वकालीन कवि योगीन्दु (छठी शती) के 'परमात्मप्रकाश' का प्रभाव भी मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा पर रहा होगा। यह तथ्य इससे भी सिद्ध होता है कि मुनि रामसिंह ने योगीन्दु द्वारा प्रस्तावित विषय को कुछ और आगे बढ़ाया। योगीन्दु जिस रहस्यभावना की चर्चा करते हैं मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में वही विषय कुछ अधिक विकसित-रूप में दिखाई देता है। इस दृष्टि से डॉ. हीरालालजी द्वारा निर्धारित 1100 ई. से पूर्ववाले समय को यदि हम लगभग 9वीं-10वीं शताब्दी पीछे तक ले जायें तो कोई असंगति नहीं होगी।

मुनि रामसिंह की एकमात्र कृति पाहुडदोहा ने उन्हें अध्यात्म और भक्ति में समरस होकर रहस्य की चरम स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग निर्दिष्ट किया। धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोधकर धार्मिक बाह्याडम्बरों और पाखंडों पर तीखा प्रहार करते हुए उन्होंने चित्त की शुद्धि पर बल दिया और संसारी प्राणी को अपना आत्मिक कल्याण करने का नया सन्देश दिया।

संत-साहित्य की परम्परा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी आदि जैसे प्रतिष्ठित हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने संवत् 1200 से प्रारम्भ की है और इन्होंने जयदेव को प्रथम संत स्वीकार किया है। ऐसा लगता है इन विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त करते समय जैन संत-परम्परा को ध्यान में नहीं रखा। जैन साहित्य के देखने से अध्येता को यह स्पष्ट आभास होने लगेगा कि जैन संतों का प्रारम्भ लगभग ईसा की प्रथम शती से हो जाता है। इसके आदि संत के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द[2] को स्वीकार किया जा सकता है जिन्होंने प्रवचनसार, समयसार, नियमसार और अष्टपाहुड में चेतन तत्त्व के विभिन्न आयामों को दिग्दर्शित किया है। उन्हीं की लंबी परम्परा में योगीन्दु, रामसिंह, आनंदतिलक, बनारसीदास, आनंदघन, भूधरदास, भैया भगवतीदास, द्यानतराय आदि शताधिक संत कवि हुए हैं जिनका योगदान संत-परम्परा के विकास में अविस्मरणीय है। इस परम्परा के आधार पर हम संत-परम्परा को अधिक नहीं तो लगभग छठी शताब्दी से तो प्रारंभ कर ही सकते हैं और प्रारम्भिक प्रतिष्ठात्मक के रूप में योगीन्दु को स्वीकार किया जा सकता है। मुनि रामसिंह ने इसी परम्परा को विकसित किया और उत्तरकालीन संत उन्हीं के चरणचिह्नों पर बढ़ते हुए दिखाई देते हैं।

हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन संत-परम्परा की पृष्ठभूमि में विशुद्धि तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। योगीन्दु इसके प्रस्थापक थे, मुनि रामसिंह संयोजक थे और कबीर ने इसके प्रचारक के रूप में काम किया था। संत यद्यपि किसी न किसी संप्रदाय से जुड़ा रहता है पर विशुद्धि सापेक्षता में वह असाम्प्रदायिक ही रहता है। कबीर का व्यक्तित्व संप्रदाय से ऊपर उठा हुआ है। जैनधर्म संप्रदाय होते हुए भी सम्प्रदायातीत है और कदाचित् उसके इसी तत्त्व ने कबीर को आकर्षित किया हो। यही कारण है कि उनकी विचारधारा पूर्ववर्ती जैन संतों से बहुत मेल खाती है। यह संभावना इसलिए और भी बढ़ जाती है कि कबीर के काल में (लगभग सन् 1398-1518 ई.) में पंजाब जैन संस्कृति का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है। समीक्षकों के इस विचार से हम भली-भांति परिचित हैं कि कबीर ने अपने निर्गुण पंथ की स्थापना में नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकराचार्य के मायावाद और सूफियों के प्रेमवाद का आश्रय लिया है। परन्तु आश्चर्य है कि किसी ने उनपर जैनधर्म के प्रभाव की बात नहीं कही। वस्तुतः कबीर-साहित्य की पृष्ठभूमि में जैन संत-परम्परा, विशेषतः मुनि रामसिंह के विचारों ने नींव के पत्थर का काम किया जो स्वयं तो प्रच्छन्न रहें पर अपनी सबल पीठ पर निर्गुण संत-परम्परा के भव्य प्रासाद को निर्मित कर दिया।

संत कवि 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आंखिन देखी' पर अधिक विश्वास किया करते थे। स्वानुभूति उनका विशेष गुण था। यह गुण उसी को प्राप्त हो सकता है जो राग-द्वेषादि विकारों

को दूरकर परमात्मपद की प्राप्ति में सचेष्ट हो। मुनि रामसिंह ने अनुभवजन्य ज्ञान को सर्वोपरि मानकर उसे शास्त्रज्ञान से ऊँचा स्थान दिया। मात्र शास्त्रज्ञान की निरर्थकता को सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा – हे पंडित, तूने कण को छोड़ तुष को कूटा है, तू ग्रंथ और उसके अर्थ में संतुष्ट है किन्तु परमार्थ को नहीं जानता इसलिए तू मूर्ख है।[3] आगे वे संसारी जीव को सलाह देते हैं – तुमने बहुत पढ़ा जिससे तालु सूख गया पर मूर्ख ही बना रहा। उस एक ही अक्षर को पढ़ जिससे शिवपुरी तक पहुँचा जा सके –

बहुयइँ पढियइँ मूढ पर तालु सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरी गम्महिं जेण ॥[4]

एक अन्यत्र दोहे में भी वे आत्मज्ञान को सर्वोपरि बताते हुए कहते हैं – जिसके मन में ज्ञान विस्फुरित नहीं हुआ वह मुनि सकल शास्त्रों को जानते हुए भी, कर्मों के कारणों का बंध करता हुआ, सुख नहीं पाता –

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु।
सो मुणि पावइ सुक्खु ण वि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥ 24 ॥

मुनि रामसिंह की भांति अध्यात्म-रसिक कबीर ने भी आत्मानुभव को श्रेष्ठ माना है। कई स्थलों पर तो उन्होंने डाँट-फटकारवाली शैली को अपनाते हुए ऐसे कोरे अक्षरज्ञानियों और वेदपाठियों को फटकारा भी है –

पढि-पढि पंडित वेद बखाणैं, भीतरि हूती बसत न जाणै।[5]

अर्थात् पंडितलोग पढ़-पढ़कर वेदज्ञान की चर्चा तो करते हैं किन्तु स्वयं में स्थित बड़े भारी तत्त्व ब्रह्म या आत्मा को नहीं जानते। एक अन्यत्र दोहे में उन्होंने मुनि रामसिंह के भावों को ही अपने शब्दों में व्यक्त किया है –

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोई।
ऐकै आखर पीव का, पढ़ै सु पंडित होई ॥[6]

अन्य संतों ने भी किसी धर्मग्रंथ की प्रामाणिकता न मानकर स्वानुभूति को विशेष महत्त्व दिया है मुनि रामसिंह के ही समान कबीर ने इसी को सच्चा आनंद कहा है – "आपहु आपु विचारिये, तबकेता होय आनंद रे।"[7] कबीर का ब्रह्म सर्वव्यापक है। उन्होंने प्रत्येक आत्मा के अन्दर परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है जिसे वह मिथ्यात्व या अविद्या माया के कारण जान नहीं पाता। सद्गुरु की प्रेरणा से मिथ्यात्व या अविद्या के दूर होते ही वह समझने लगता है कि 'जीव ब्रह्म नहिं भिन्न है' अर्थात् 'अहम् ब्रह्मास्मि'।[8] ब्रह्म और जीव के इस अभेदत्व को उन्होंने एक दोहे में सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है –

जल में कुंभ कुंभ में जल है, भीतरि बाहरि पानी
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कह्यो गियानी।[9]

उन्होंने उसके अनन्त नाम दिये हैं – "अपरम्पार का नाउं अनंत" राम, रहीम, खुदा, खालिक, केशव, करीम, बीठलुराउ, सत् सत्नाम अपरम्पार, अलख निरंजन, पुरुषोत्तम, निर्गुण, निराकार, हरि, मोहन आदि। साथ ही कबीर उस परमात्मा या ब्रह्म को "वरन् विवरजिन है रह्या, नॉ सो स्याम ने सेत" मानते हैं और वह प्रत्येक घट (शरीर) में व्याप्त है परन्तु अज्ञानवश लोग ब्रह्म की खोज सहस्त्रों मील दूर स्थित मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर आदि तीर्थों में करते हैं। उन्हें दु:ख और आश्चर्य होता है कि अपने भीतर विद्यमान आत्मा-परमात्मा को कोई नहीं देखता –

कस्तूरी कुंडली वसै, मृग ढूँढै बन माँहि ।
ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनिया देखे नाहिं ॥[10]

कबीर की आत्मा-परमात्मा संबंधी लगभग सभी मान्यताएं उनके पूर्वकालीन मुनि रामसिंह से काफी अंशों में मिलती-जुलती हैं। संत और निरंजणु शब्दों को कवि ने अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया है।[11] कहीं उसे शिवरूप माना है और कहीं आत्मा के विशुद्ध परमानंद, नित्य, निरामय, ज्ञानमय-रूप में व्यक्त किया है और कहीं परमात्मा-रूप में। वह शिव वर्ण-विहीन और ज्ञानमय है, ऐसे ही सत् स्वरूप में हमारा अनुराग होना चाहिए –

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।
संत णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ॥[12]

अन्यत्र दोहों में भी उन्होंने निरजंन शब्द को परमतत्व के रूप में ही लिया है।[13] साधक कवि ने सकल और निकल रूप परमात्मा को कबीर आदि संतों की भांति 'सगुणी' और 'णिग्गुणउ' शब्दों से चित्रित किया है। परन्तु उसमें काला, गोरा, छोटा, बड़ा, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जैसा भेद करना मूढ़ता है।[14] बस, निर्मल होकर परम निरंजन को जानने का प्रयास करना चाहिए।

दाम्पत्यमूलक पुनीत आदर्शप्रेम को आत्मा-परमात्मा के बीच कल्पित करने का श्रेय मुनि रामसिंह को दिया जा सकता है। उन्होंने परमात्मा को प्रिय और स्वयं को पत्नी-रूप में चित्रित किया है। इस संदर्भ में पाणिवइ[15] (प्राणपति) जैसे शब्द उल्लेखनीय हैं –

णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ ।
तसु कारणि आणी माहू जेण गवंगउ संठियउ ॥ 99॥
हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहि अंगु ॥ 100॥

यह दाम्पत्यमूलक प्रेमभावना मुनि रामसिंह के पूर्ववर्ती साहित्य में मुझे देखने को नहीं मिली। उत्तरकालीन कबीर आदि संतों ने इसी दाम्पत्यमूलक प्रेम भावना को और गहराई से अपनाया। चिदानंद आत्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन जिस प्रकार से मुनि रामसिंह ने किया है उसका प्रभाव भी कबीर पर दिखाई पड़ता है। अज्ञानी लोग देहरूपी देवालय में शिव के निवास को न जानकर उसे देवालयों और तीर्थों-तीर्थों में ढूंढते हैं –

मूढा जोवइ देवलइं लोयहि जाइं कियाइं ।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं ॥ 180 ॥
देहादेवलि सिउ वसइ तुहं देवलइं णिएहि ।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि ॥ 186 ॥[16]

मुनि रामसिंह ने माया-जालु[17] तथा मोह[18] शब्दों का प्रयोग किया है जिसे संतों ने उसी रूप में उनसे उधार ले लिया। शरीर की नश्वरता[19], मिथ्यात्व (मिच्छणादिट्ठी)[20], मित्थन्तिय[21] और मोहिय[22] आदि तत्त्व कबीर आदि संतों के मायादर्शन का स्मरण कराते हैं।

सभी संतों ने गुरु के महत्त्व को सर्वोपरि माना है। इन सबके पूर्व रामसिंह ने गुरु की महिमा इतनी अधिक स्वीकार की है कि अपने ग्रंथ का प्रारम्भ ही गुरु की वंदना से किया है और उसे स्व-पर-प्रकाशक, दिनकर, हिमकिरण, दीप और देव जैसा माना है -

गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पा परहं परपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥ 1 ॥

गुरु के प्रसाद से ही देह के देव को जाना जा सकता है अन्यथा मिथ्यादृष्टि जीव कुतीर्थों का परिभ्रमण ही करते रहते।[23] इसलिए कवि ने सत्संगति को महत्त्व देते हुए कहा है कि विष वा विषधर अच्छे हैं, अग्नि बेहतर है, वनवास का सेवन बेहतर है किन्तु मिथ्यात्वियों की संगति अच्छी नहीं।[24]

मुनि रामसिंह की भाँति कबीर ने "बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दियो दिखाय" कहकर गुरु की अनंत महिमा का गुणगान और सत्संगति को सर्वोपरि माना है -

कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि ।
संगति भई असाधु की आठों पहर उपाधि ॥[25]

साधकों ने साधना की सफलता के लिए चित्तशुद्धि को आवश्यक माना है। कबीर से पूर्व मुनि रामसिंह ने बाह्य क्रियाएं करनेवाले योगियों को फटकारा है और अपनी आत्मा को धोखा देनेवाला कहा है। चित्तशुद्धि बिना मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि जब आभ्यंतर चित्त ही मलिन है तब बाह्य तप करने का क्या तात्पर्य (61वां दोहा) ! यदि चित्त को न तोड़ा तो सिर मुंडाने का क्या मतलब ! चित्त का मुंडन करनेवाला ही संसार का खंडन करता है -

मुंडिय मुंडिय मुंडिया । सिरु मुंडिय चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ । संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥[26]

बाह्याचार और मिथ्यात्व क्रियाओं को व्यर्थ मानते हुए उन्होंने आगे कहा कि हे मूर्ख ! तूने तीर्थ से तीर्थ भ्रमण किया और अपने चमड़े को जल से धो लिया पर तू मन को, जो पापरूपी मल से मैला है, किस प्रकार धोयेगा ?[27] इसीलिए उन्हें चित्तशुद्धि के बिना ज्ञान भी व्यर्थ लगता

है। उन्होंने ज्ञानतिलिंग (णाणतिं डिक्की) को सीखने की सलाह दी जो प्रज्वलित होने पर पुण्य और पाप को क्षणमात्र में जला देती है। सभी कोई सिद्धत्व के लिए तड़फड़ाता है, पर सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने से ही मिल सकता है। इसी संदर्भ में मात्र ज्ञान की निरर्थकता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि – हे पंडित, तूने कण को छोड़, तुष को कूटा है, तू ग्रंथ और उसके अर्थ में संतुष्ट है किन्तु परमार्थ को नहीं जानता इसलिए तू मूर्ख है।[28] बहुत पढ़ा जिससे तालु सूख गया पर मूर्ख ही रहा, उस एक ही अक्षर को पढ़ जिससे शिवपुरी को प्राप्त किया जा सके। श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा और हम दुर्बुद्धि हैं इसलिए[29] केवल वही सीखना चाहिए जिससे जनम-मरण का क्षय कर सकें।

कबीर ने भी चित्तशुद्धि पर जोर देते हुए बाह्याडम्बरों को व्यर्थ माना है। मात्र मूर्तिपूजा करनेवालों और मूंड मुंडानेवालों पर कटु प्रहार किया है –

पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
तातैं या चाकी भली, पीस खाय संसार॥
मूंड मुंडाये हरि मिलैं, सब कोई लेय मुंडाय।
बार-बार के मूंड तें भेड़ न बैकुंठ जाय॥[30]

ऊपरी मन से माला फेरनेवालों[31] और कोरे अक्षरज्ञानियों[32] की भी उन्होंने अच्छी खबर ली है और परमात्म-चिंतन को ही मुनि रामसिंह के समान सर्वोपरि माना है –

कौन विचार करत हो पूजा। आतम राम अवर नहीं दूजा।
परमात्म जौ तत्त विचारै। कहि कबीर ताकै बलिहारे॥[33]

साधक कवि मुनि रामसिंह ने इस सन्दर्भ में मन की स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने मन को 'करभ' की उपमा देकर कहा कि – हे मन, तू इन्द्रिय-विषयों के सुख से रति मत कर। जिनसे निरंतर सुख नहीं मिल सकता उसे क्षणमात्र में छोड़। न तोष कर, न रोष कर, न क्रोध कर। क्रोध से धर्म का नाश होता है और धर्म नष्ट होने से नरक गति होती है। इस प्रकार मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है।[34] साधना में मन की शक्ति अचिन्त्य है। वह संसार के बंध और मोक्ष दोनों का कारण होता है इसलिए मुनि रामसिंह ने मन की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि षट्दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रांति ना मिटी। एक देव के छह भेद किये अर्थात् षट्दर्शन का लक्ष्य एक ही है उनमें जो विरोध मानता है वह भ्रांति में है इससे उसका कल्याण नहीं हो सकता।[35]

कबीर ने भी मन और माया के संबंध को अविच्छिन्न कहकर उसे सर्वत्र दुःख और पीड़ा का कारण कहा है –

मन पांचौ के वसि परा, मन के वस नहिं पांच।
जिस देखूं तित दौ लगि, जित आखू तित आंच॥[36]

चंचल चित्त को निश्चल करने पर ही राम-रसायन का पान किया जा सकता है।[37] एक अन्यत्र पद में कबीर मन को संबोधित करते हुए कहते हैं – हे मन ! तू क्यों व्यर्थ भ्रमण करता फिरता है ? तू विषयानन्दों में संलिप्त है फिर भी संतोष नहीं। तृष्णाओं के पीछे बावला बना हुआ फिरता है। मनुष्य जहाँ भी पग बढ़ाता है उसे मोह-माया का बंधन जकड़ लेता है। इसलिए कबीर ने मन के अनुसार न चलकर उसे वश में करने की सलाह दी है –

मन के मतै न चालिए, मन के मतै अनेक ।
जो मन पर असवार हैं, ते साधु कोउ एक ॥
कबीर मन पंखी भया, बहुतक चड्या अकास ।
उहाँ ही तै गिरि पड्या, मन माया के पास ॥[38]

स्वपर-भेदविज्ञान का मुक्ति पथ में अनुपम महत्त्व है। एक दोहे में मुनि रामसिंह कहते हैं कि जिसने अपनी देह से परमार्थ को भिन्न नहीं माना वह अंधा दूसरे अंधों को कैसे मार्ग दिखा सकता है –

भिण्णउ जेहिं ण जाणियउ णिय देहहं परमत्थु ।
सो अंधउ अवरहं अंधयहं किम दरिसावइ पंथु ॥[39]

इस भेदविज्ञान के पाने पर साधक का मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से। दोनों के समरस हो जाने पर कवि को यह समस्या हो गई कि वह किसकी पूजा करे –

मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥[40]

एक अन्य दोहे में भी वे कहते हैं कि – हे जिनवर ! जब तक तुझे नमस्कार किया तब तक अपनी देह के भीतर ही तुझे न जाना। यदि देह के भीतर ही तुझे जान लिया तब कौन किसको नमन करे ?[41] अत: उनका कहना है कि ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त और भाव पराया है। उसे छोड़कर हे जीव ! तू शुद्ध स्वभाव का ध्यान कर।[42] इसी सन्दर्भ में जोइये जोगी, सुण्णं (शून्य) आदि शब्द भी द्रष्टव्य हैं जिन्हें उत्तरवर्ती संत कबीर ने भी अपनाया। मुनि रामसिंह की भाँति कबीर ने भी आत्मा-परमात्मा के इस मिलन को समरसता कहा है। उन्होंने इस सामरस्य भाव को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है –

मेरा मन सुमरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहिं ।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौ काहि ॥[43]

मुनि रामसिंह के दोहे के समान ही एक अन्य दोहे में कबीर ने परमात्मा से समरस होने का भाव व्यक्त किया है –

मन लागा उन मन सौं, उन मनहिं विलग ।
लूंण बिलगा पाणियां, पांणि लूंण विलग ॥[44]

इस प्रकार मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा को संत-परम्परा की आधारशिला माना जा सकता है। संत-साहित्य की पृष्ठभूमि के निर्माण में रामसिंह के चिंतन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी के विद्वानों ने आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य को मात्र धार्मिक साहित्य मानकर उसे उपेक्षित कर दिया जिससे हिन्दी संत-परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन का एक कोना अछूता-सा रह गया। समूची संत-परम्परा भले ही किसी-न-किसी धर्म से सम्बद्ध रही हो पर उनके चिंतन के विषय बहुत अधिक पृथक नहीं रहे। आत्मा, परमात्मा, कर्म-पाखंड, सांसारिक माया, सद्गुरु-सत्संग आदि जैसे विषयों पर सभी ने अपनी कलम चलायी है। जैन धर्म और दर्शन प्रारंभ से ही प्रगतिवादी, तार्किक और वैज्ञानिक रहा है और उसने इन सारे विषयों पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार-मंथन किया है। आदिकाल और मध्यकाल में जब ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया तब मूढ़ताओं का प्रचार अधिक हुआ। जैन संतों ने इनका पुरजोर खंडन किया जो योगीन्दु, मुनि रामसिंह आदि अपभ्रंश कवियों के साहित्य में भली-भाँति देखा जा सकता है। कबीर-साहित्य का गहन अध्ययन करने पर अध्येता को यह स्पष्ट आभास हो जायेगा कि कबीर ने इन हिन्दी जैन संतों को अच्छी तरह से सुना-समझा होगा इसलिए जैन संत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यदि कबीर को पढ़ा जाये तो संत-साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि में कदाचित् एक नया अध्याय जुड़ सकता है।

---

1. पाहुडदोहा, संपादक, डॉ. हीरालाल जैन, संपादकीय वक्तव्य।
2. *कतिपय विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द का समय* चतुर्थ शती मानते हैं जो सही नहीं लगता। भाषा और विषय के पर्यलोचन पर उनका समय ईसवी प्रथम सदी के आसपास ही ठहरता है।
3. पाहुडदोहा, 85-88।
4. वही, 97।
5. पाहुडदोहा, 24, और भी देखिए दोहा 87, 98 ।
6. कबीर ग्रंथावली, पृ. 342।
7. कबीर ग्रंथावली, पृ. 96, पद 23।
8. वही, पृ. 202।
9. कबीर ग्रंथावली, रमैणी, बारह पदी, पृ. 242-243 ।
10. वही, पृ. 297, और भी देखिए पृ. 217 और 477।
    कबीर दुनिया दे हुरे, सीस नवांवण जाई ।
    हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौ ल्यौ लाई ॥
    हरि में तन है, तन में हरि है, है सुनि नाहीं सोय ।
11. पाहुडदोहा, 38, 61, 94, 124।
12. पाहुडदोहा, 38।

13. पाहुडदोहा, 61, 62, 64, 78, 94, 191।

14. वही, 38, 113, 77, 78, 79, 14, 26-33।

15. वही, 108; दोहा क्र. 45 में तो – पंचहि बाहिरु णेहडउ हलि सेहि लग्गु पियस्सु कहकर इस भावना को और भी स्पष्ट किया है।

16. तुलनार्थ देखिए –

(1) कस्तूरी कुंडली बसै, मृग ढूंढे वन मांहि।
ऐसे घटि घटि राम है, दुनिया देखे नांहि। कबीर ग्रंथावली, पृ. 297

(2) मोको कहां ढूँढे बंढे मैं तो तेरे पास में
न मैं देवल ना मैं मसजिद, न काबो कैलास में। कबीर ग्रंथावली

17. पाहुडदोहा, 69 18. 8, 9, 10, 11, 14, 98 ।

18. वही, 18 ।

19. वही ।

20. वही, 70 ।

21. वही, 20 ।

22. वही, 8, 58, 81 ।

23. वही, 20 ।

24. वही, 20 ।

25. संत्तवाणी संग्रह भाग 1.22 ।

26. पाहुडदोहा, 135 ।

27. वही, 162, 163 ।

28. वही

29. वही, 97, 98 ।

30. संतवाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 62 ।

31. माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका छांडि दे, मन का मनका फेर ॥ कबीर ग्रंथावली, पृ. 45

32. जिस कारनि तट तीरथ जांही, रतन पदारथ घट ही मांहि ।
पढ़ि-पढ़ि पंडित वेद बखाणै, भीतरि हूती बसन न जाणै ॥ (कबीर ग्रंथावली)

33. कबीर ग्रंथावली, पृ. 389 ।

34. पाहुडदोहा 92-93, 146 ।

35. वही, 116 ।

36. कबीरवाणी, पृ. 67 ।

37. यह काचा खेलन होई, जन पटतर खेले कोई ।
चित्त चंचल निहचल की जै, तब राम रसायन पीजै ॥ कबीर ग्रंथावली पृ. 146

38. कबीर ग्रंथावली सटीक, पृ. 149 ।

39. पाहुडदोहा, 128 ।

40. पाहुडदोहा, 49 ।

41. वही, 141 ।

42. वही, 189 ।

43. कबीर ग्रंथावली, पृ. 110 ।

44. वही, पृष्ठ 136, और भी देखिए पृष्ठ 110
तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ ।
बारी फेरी बलि गई, जित देखों तित तूँ ॥

न्यू एक्सटेंशन एरिया
सदर नागपुर (महाराष्ट्र)

फागु-काव्य : विधा और व्याख्या

– डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

•

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत-साहित्य विविध काव्य-रूपों और विधाओं की दृष्टि से जितना समृद्ध है उसका परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य अपेक्षाकृत और भी अधिक सम्पन्न रहा है। कारण, प्रथम जहाँ काव्यशास्त्रीय विधाओं का ही अनुसरण-अनुकरण करता रहा है वहाँ अपभ्रंश की लोकानुरागिनी साहित्य-परंपरा ने एक पग और अग्रसर होकर लोक-साहित्य तथा लोक-शास्त्र की अनगिन अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त व्यंजना-शैलियों को अपनाकर सचमुच नूतन काव्य-संसार ही रच डाला। अपभ्रंश के इन रचनाकारों में एक ओर जैन मुनि एवं आचार्य हैं तो दूसरी ओर सिद्ध-साहित्य के प्रणेता चौरासी सिद्ध तथा नाथ संप्रदायी। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी कृतिकार हैं जिनका न तो जैनधर्म तथा मुनियों से कोई संबंध है और न सिद्धों के धर्म-प्रयोजन से; बल्कि जिन्होंने लोक-जीवन और समाज के मध्य से ही अपने काव्य-सृजन के मार्ग का संधान किया है। सिद्ध-साहित्य परवर्ती काल में बौद्ध-धर्म की वज्रयानी-सहजयानी शाखा के प्रभाव से गुह्य एवं लैंगिक साधनाओं की ओर उन्मुख होने से अपनी अभिव्यक्ति के निमित्त 'संधा भाषा' के प्रयोग के कारण जन-जीवन से कटने लगा था और नाथ संप्रदाय तो लोक-रस के अभाव के कारण पहले से ही सीमित था। किन्तु जैन मुनियों का साहित्य लोकोन्मुखी होने के कारण जैन और जैनेतर सभी के लिए सरस एवं आकर्षक था। वीतरागी होकर भी इन जैन मुनियों

और आचार्यों ने लोक-जीवन तथा लोक-साहित्य का जैसा मंथन और चिन्तन किया वैसा ही नित नूतन साहित्य-सृजन भी। यद्यपि इनका मूल प्रयोजन जैनधर्म का प्रचार-प्रसार ही था, पर उसकी अभिव्यक्ति का साहित्यिक माध्यम बड़ा मनोहारी था। लोक-जीवन की बारीकियों तथा संस्कृति के अवगुंठनों को परखने, पचाने और प्रयोग करने की ऐसी भव्य दृष्टि एवम् कला इस काल के बहुत समय बाद परवर्ती हिन्दी के मध्यकालीन सूफी-प्रेमाख्यानों में ही देखने को मिलती है।

सचमुच साहित्यकार की अपनी अलग दृष्टि होती है। अन्य सामाजिक जिस वस्तु को नगण्य और मूल्यहीन जानकर फेंक देते हैं; सच्चा और समर्पित कलाकार उसी में से कला के भव्य आकार को जन्म देता है, सुन्दर को तराशता है और साहित्यकार जीवन की उदात्त एवं नव्य रूप-सृष्टि करता है। अपभ्रंश के इन जैन मुनियों और आचार्यों के अंतस् में छिपे साहित्य-साधक और कला-स्रष्टा का यह रूप बड़ा ही अनूठा, अन्यतम और बेजोड़ है। धर्म-साधना में निरत रहने पर भी इसी से उनकी साहित्य-संरचना अपने युग की अक्षुण्ण निधि तो है ही, परवर्ती हिन्दी-साहित्य के लिए भी उपजीव्य बन गई है।

जैन मुनियों द्वारा प्रणीत यह अपभ्रंश-साहित्य अधिकांशतः प्रबंधपरक ही है और कथा-काव्यों की परंपरा का अनुगामी रहा है। परन्तु कथा-शिल्प इनका अपना तथा मौलिक है। इस प्रकार इनका कृतित्व कविता और कला, भाव और व्यंजना, कथा-संगठन और कल्पना एवं भाषा और बन्ध के मणिकांचन संयोग से अद्वितीय बन गया है। जैनधर्म के प्रचार एवं जन-साधारण के चारित्रिक गठन को बल देने की दृष्टि से पूज्य पुरुषों, तीर्थंकरों तथा आचार्यों के जीवन-वृत्त को काव्य में गूँथना आवश्यक था और यह प्रबन्ध-रचना में ही संभव हो सकता था। अस्तु, अपनी अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने किसी पांडित्यपूर्ण पथ का अनुधावन न कर, लोकवाणी के विविध रूपों को ही सहर्ष आत्मसात् कर बहते नीर की निष्कलुषता का मूल्यांकन किया। इस प्रकार अपभ्रंश की ये प्रबंधपरक रचनाएँ मूलतः चरितकाव्य ही हैं। इनके लिए रचयिता जैन मुनियों ने विविध नामों का प्रयोग किया है, यथा – रास, विलास, लता, चर्चरी, संधि तथा फाग आदि। विवेच्य की दृष्टि से जहाँ इनमें किंचित् साम्य दीख पड़ता है वहाँ काव्य-बन्ध के विचार से ये परस्पर भिन्न हैं। लगता है जैसे शैली-वैविध्य के कारण ही इन काव्य-रूपों का सृजन हुआ है। अस्तु, कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के ये फागु-काव्य भी चरित-निरूपण की एक विशिष्ट शैली के प्रतिपादक हैं – 'जंबुय गुण अनुरागहिं, फागिहिं कहिय चरित्तु'।[1]

'फागु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'फल्गु' तथा प्राकृत 'फग्गु' (> फागु) से स्पष्ट है। भारतीय लोक-जीवन में 'फागु' शब्द 'फागुन' या 'फाल्गुन' महीने से जुड़ा है और इसी महीने में बसंत ऋतु की मादकता तथा मस्ती मानव एवं मानवेतर प्रकृति में अवलोकनीय होती है। बाहर और भीतर का उल्लास सहज सौन्दर्य की सृष्टि में सक्षम होता है। तभी तो जड़ प्रकृति रंग-बिरंगे-बहुरंगे परिधान में मुस्कुराती-लुभाती है और मनुष्य निस्पृह भाव से नाचता-गाता है। अपभ्रंश की यह काव्य-विधा अपने नाम के अनुरूप इस वैशिष्ट्य से परिपूर्ण है।[2] अतः कहा

जा सकता है कि ये फागु-काव्य अपने प्रारंभ में नृत्य करते हुए गाये जाते होंगे, जैसा कि अपभ्रंश के जैन-मुनियों द्वारा ही प्रणीत 'रास' नामधारी काव्यों के संबंध में भी मिलता है।[3]

इनके नाचने-गाने तथा खेलने-रमने के अनेक संदर्भ इन कृतियों में ही उपलब्ध होते हैं, यथा –

1. 'खेला नाचउँ चैत्र मासि रंगिहि गावेवउं'[4]
2. 'हरिहलहरसउं नेमिपहु खेलइ मास्र वसंतो'[5]
3. 'धनु धनु ते गुणवंत बसंत विलासु जि गाइ'[6]
4. 'गाइसु नेमि कृपागुरु सागरु गुणह अपारु'[7]
5. 'फागु वसंति जि खेलइ, खेलइ सुगुण निधान'[8]
6. 'किवि नाचइ मनरंगि, केवि खेलइ तिहि फागो'[9]
7. 'फागु खेलइ मनरंगिहि हंसगमणि मृगनयणि'[10]

'फागु खेलने' की परम्परा आज भी ब्रज, राजस्थान तथा गुजरात के लोक-जीवन में दर्शनीय है। 'बसन्त ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है। उस समय नर-नारी मिलकर परस्पर में एक-दूसरे पर अबीर-गुलाल आदि डालते हैं और जल की पिचकारियों से क्रीड़ा करते हैं, उसे फाग खेलना कहते हैं। बसंत-ऋतु के उल्लास का जिसमें कुछ वर्णन हो या उन दिनों में जो रचना गाई जाती हो, उन रचनाओं की संज्ञा फागु दी गई है'।[11]

श्री के. एम. मुंशी के मतानुसार बसंतोत्सव के समय गाये जानेवाले रास को ही फागु संज्ञा प्रदान की गई। इनमें बसंत ऋतु के सौन्दर्य, प्रणयी पात्रों के उल्लास एवं नृत्य का वर्णन रहता है जिनसे गुजरात के मुक्त तथा आनंदमय जीवन की सहज अभिव्यक्ति होती है। उनके अनुसार 14वीं सदी की 'स्थूलिभद्र फागु' इस परंपरा की सर्वप्रथम कृति है।[12]

अन्य अनेक जैनेतर कवियों ने भी 'फागु' काव्यों की रचना की। उनमें भी बसंत ऋतु की सुन्दर छटा तथा लोक-जीवन की मस्ती के साथ शृंगार रस का मनोहारी निरूपण हुआ है, यथा – अज्ञात कविकृत 'नारायण फागु'; चतुर्भुज-कृत 'भ्रमरगीता'; अज्ञात कविकृत 'हरिविलास फागु'; 'विरह देसावरी फागु' तथा 'चुपई फागु' आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन दिनों लोक-जीवन और लोक-साहित्य में फागु-रचना-शैली का भरपूर प्रचार था जिसमें नृत्य की प्रधानता रहती और तदुपरि गीत की संगति से इसका रूप विकसित हुआ होगा। इन्हीं गीतों के माध्यम से जैन मुनि अपने पूज्य तीर्थंकरों एवं आचार्यों के चरित्र को शृंगार के परिवेश में काव्यबद्ध करते होंगे और नृत्य के साथ बसंत ऋतु में उसकी अभिव्यक्ति श्रावकों के साथ उल्लासपूर्ण वातावरण में होती होगी। फिर, धीरे-धीरे कालांतर में कथा-तत्त्व के समावेश से इनका काव्य-रूप सुपाठ्य एवं गेय होता गया होगा।

लोक-जीवन में उद्‌भूत इन फागु-काव्यों में जहाँ बसंत के मादक और उद्दीपनकारी परिवेश में शृंगार रस के संयोग एवं वियोग पक्ष का भरपूर चित्रण होता है वहाँ जैन मुनियों द्वारा प्रणीत

इन फागु-काव्यों में शृंगार का चमत्कार तो प्रदर्शित किया ही जाता है, किन्तु अंत की ओर बढ़ते हुए उनमें एक नया मोड़ उभरने लगता है; शृंगार का स्थान शांत तथा निर्वेद लेने लगते हैं और नायक जैनधर्म में दीक्षित हो जाता है। सांसारिक काम के ऊपर सात्विक वैराग्य की यह विजय ही इन जैन फागु-काव्यों का मूल उद्देश्य है। लोक-प्रचलित इस फागु-शैली को अपनाने की एक मनोवैज्ञानिक आधारभूमि भी हो सकती है और वह यह कि बसंत ऋतु ही सर्वाधिक कामोद्दीपक ऋतु है, कामदेव के पंचबाण बड़े-बड़े तपस्वियों को भी इसी ऋतु में विचलित करते हैं। अतः संयम और इंद्रिय-निग्रह की कसौटी इसी ऋतु को कहा जा सकता है। जैन मुनि अपनी तपश्चर्या में इस दृष्टि से सचमुच आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। तभी तो यहाँ वेश्याओं को भी पात्र बनाया गया है। वे मुनियों के तप को भंग करने का हरसंभव प्रयास करती हैं, परन्तु अंत में काम को इनके संयम के समक्ष पराजित होना ही पड़ता है और इसी के साथ धर्म-दीक्षा से इनका अन्त हो जाता है।

इस प्रकार फागु-काव्यों की यह परम्परा एक ओर लोक-जीवन के मध्य प्रसार पाती हुई बढ़ रही थी तो दूसरी ओर जैन मुनियों द्वारा धर्म-प्रचार में इसका भरपूर उपयोग हो रहा था। 15वीं सदी तक आते-आते तो वैष्णव कवियों के होरी, धमार तथा फागु आदि राग-रागिनियों और विविध वाद्य-यंत्रों के[13] सुर-ताल के साथ इनका रूप और भी अधिक सज-सँवर गया। रूपवती स्त्रियाँ बसन्तोत्सव पर फागु खेलती थीं। इसी बीच इनके रचयिताओं को रूप-चित्रण का अवसर भी मिल जाता -

> **पीन पयोहर अपच्छर गूजर धरतीय नारि,**
> **फागु खेलइ ते फरि-फरि नेमि जिणेसरि बारि ॥5॥**[14]
>
> **मयण खग्ग जिम लहलहंत जस वेणी दंडो,**
> **सरलउ तरलउ सामलउ रोमावलि दंडो ।**[15]
>
> **अह निरतीय कज्जलरेह नयणि मुहकमलि तंबोलो,**
> **नगोदरकंठलउ कंठि अनु हार विरोलो ।**
> **मरगदजादर कंचुयउ फुडफुल्लंह माला,**
> **करि कंकण मणिवलयचूड खलकावइ बाला ।**
> **रुणझुण ए रुणझुण ए रुणझुण ए कडि घघरियाली,**
> **रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए पयनेउर जुयली ।**[16]

और शृंगार रस की पूर्णता के लिए उसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों के चित्रण का सुयोग भी प्राप्त हो जाता। संयोग की घड़ियों में नख-शिख का मनभावन आकलन जहाँ परम्परागत काव्यरूढ़ि का संकेत करता है वहाँ उसकी मौलिक उद्भावनाओं में कवि-कर्म का साक्षात्कार भी होता है। इसी प्रकार विप्रलंभ के निरूपण में भावनाओं का तारतम्य विरहिणी नायिका की अंतर्दशा को अभिव्यक्त करने में पूर्ण सक्षम रहा है। यथा -

अहे पहिरणि पीत पटोलडी, ओढणी नवरंग चीर,
विरहु तुम्हारी नाहला नयण न सूकि नीर ॥ 4 ॥
भरत भरावू कंचुउ, गलि एकाउलि हार,
सहिज सकोमल चालती, पाये नेउर झणकार ॥ 5 ॥
जसी तरुवर पाँखड़ी, आँखड़ी काजलि रेह,
बालपणानुं नेहडु, वालम कांई उवेखि ॥ 6 ॥[17]

बंसत-श्री की पृष्ठभूमि में शृंगार का यह आकलन जैन और जैनेतर सभी फागु-काव्यों में समानतः अवलोकनीय है। मात्र 14वीं सदी का जिनपद्मसूरि-कृत 'स्थूलिभद्र फागु' इस दृष्टि से अपवाद है। कारण, यहाँ बसन्त के स्थान पर वर्षा ऋतु का वर्णन किया गया है, यथा -

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा बरसंति,
खलहल खलहल खलहल ए बादला बहंति,
झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झबकइ,
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणिमणु कंपइ ॥ 6 ॥[18]

पर, अंत समानतः नायक-नायिका के जैनधर्म में दीक्षित होने से किया गया है। इस लौकिक अनासक्ति तथा निर्वेद के कारण ही इनमें पारलौकिक सिद्धि तथा फल का अंत में संकेत किया गया है, यथा -

देव सुमंगलपुत्त फागु गायउ भो भविया,
जिम तुम्हि पायउ रिद्धि वृद्धि मंगल संकलिया ॥ 20 ॥[19]

× × ×

फागु बसंति जि खेलइ, खेलइ सुगुण विधान,
विजयवंत ते छाजइ, राजइ तिलक समान ॥ 59 ॥[20]

इस प्रकार इन फागु-काव्यों में विलास के ऊपर संयम की, काम के ऊपर वैराग्य की विजय सिद्ध करने के लिए विलासवती वेश्याओं और तपोधारी मुनियों की जीवन-गाथा प्रदर्शित की जाती है। ...... चमत्कार के ये ही क्षण फागुओं के प्राण हैं। इसी समय कथावस्तु में एक नया मोड़ उपस्थित होता है जहाँ शृंगार निर्वेद की ओर सरकता दिखाई पड़ता है। इस स्थल से आगे वासना का उद्दाम वेग तप की मरुभूमि में विलीन हो जाता है और अध्यात्म के गंगोत्री पर्वत से आविर्भूत पवित्रता की प्रतिमा पतितपावनी भगीरथी अधम वारि-वनिताओं के कालुष्य को सद्यः प्रक्षालित करती हुई शांति-सागर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं।[21] फिर भी, यह कहने में कोई संकोच नहीं कि जैन फागु-काव्य धर्म-भाव-प्रधान होने पर भी कवित्व से भरपूर हैं। जहाँ जैनेतर फागु-काव्य लोक-जीवन की मस्ती से गहराये होने के कारण काव्य-रस से भी भरे-पूरे होते हैं वहाँ जैनों के फागु-काव्यों का कवित्व उपास्य बुद्धि से चालित होता है। इसी प्रकार परवर्ती हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों द्वारा रचे गये फागु-संबंधी पद भी आध्यात्मिक होकर कवित्व में

कम नहीं हैं। किन्तु, 16वीं सदी के अन्त में रचे गये अपभ्रंश के जैन फागु वैष्णव भक्तों की साहित्यिक-परम्परा से पूर्णतः प्रभावित हुए दीख पड़ते हैं और उनमें रूपकत्व की छटा के दर्शन होने लगते हैं, यथा – 'अध्यात्म-फागु' में शरीररूपी वृन्दावन-कुंज में ज्ञानरूपी बसंत प्रकट होता है। मतिरूपी गोपियों के साथ पाँच इंद्रियोंरूपी गोपों का मिलन होता है। सुमतिरूपी राधा के साथ आत्मारूपी हरि होरी खेलने जाते हैं और सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी लेकर मनरूपी स्याम होरी खेलते हैं।[22]

इनके अतिरिक्त जैनेतर कवियों द्वारा कुछेक विशुद्ध शृंगारपरक फागु-काव्यों की भी रचना हुई। यथा – 'विरह देसाउरी फागु' में लौकिक पुरुष-स्त्री ही नायक-नायिका हैं तथा वियोग के उपरांत संयोग शृंगार का निरूपण किया गया है। 'मूर्ख फागु' में एक रूपवती नवयौवना का विवाह मूर्ख पति के साथ हो जाने से उसकी मार्मिक अंतर्व्यथा का चित्रण किया गया है। अज्ञात कवि-कृत 'नारायण फागु' तथा 'वसंत विलास फागु' में कृष्णभक्तों के समान गोपी-कृष्ण तथा उद्धव-गोपी-लीला का मनोहारी आकलन हुआ है। मुनि विनयविजय-कृत 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' में भी नेमिनाथ के विरह में संतप्त राजुलि की विरह-वेदना का वर्णन देखे ही बनता है। यह फागु-काव्य' तो नहीं, पर 'फागु छन्द' के प्रयोग के कारण इसी परम्परा की नूतन काव्य-शैली कही जा सकती है। 16वीं सदी के ही रत्नमंडनगणि-कृत 'नारी निरास फागु' में अपभ्रंश के साथ संस्कृत श्लोकों के प्रयोग के सहारे नारी के रूप-चित्रण, भाव-निरूपण और तदुपरि शांत-रस के पर्यवसान की नूतन लीक बनाई गई है। लगता है इस समय तक आते-आते संस्कृत के विद्वान् कवि भी इस काव्यरूप से प्रभावित होने लगे थे। साथ ही, इस समय रची गईं 'मंगल कलश फागु' तथा 'वासुपूज्य मनोरम फागु' जैसी कृतियाँ तो छोटी-बड़ी होने पर भी नाम की दृष्टि से ही फागु कही जा सकती हैं।

इस प्रकार स्पष्टतः कहा जा सकता है कि 14वीं सदी में प्रारम्भ होकर 16वीं सदी के अंत तक पनपने और विकसित होनेवाला यह काव्य-रूप अपनी लोकप्रियता तथा लोक-साहित्यगत धुरी के प्रभाव से शिष्ट साहित्य का अंग बना और अपने प्रारंभिक नृत्यपरकरूप से गीति एवं अभिनय के सामंजस्य द्वारा विकसित होता गया तथा कथा-तत्त्व के समावेश एवं वर्णनात्मकता के कारण पठनीय बनकर समृद्ध हुआ। यहीं कृष्णभक्त कवियों के गोपी-कृष्ण तथा उद्धव-राधा-गोपी जैसे सरस प्रसंगों से प्रभावित होकर इसके कथ्य में किंचित् परिवर्तन हुआ, वहाँ अभिव्यंजना-शिल्प में भी नवीनता आई। अस्तु, इस कालावधि में फागु-काव्यों के तीन रूप दर्शनीय हैं – एक, जैन मुनियों द्वारा रचे गये फागु-काव्य, जिनमें बसंत-श्री की आधारभूमि पर लौकिक शृंगार की पराकाष्ठा अंत में निर्वेद में बदल जाती है; दूसरे, जैनेतर कवियों द्वारा रचे गये फागु-काव्य, जिनमें प्रकृति के उद्दीप्त परिवेश में लोक-शृंगार की व्यंजना बड़ी मधुर और मार्मिक बन पड़ी है एवम् तीसरे, कृष्णभक्त वैष्णव कवियों द्वारा रचे गये बसंत तथा फागु-संबंधी पद, जो आध्यात्मिक मधुर रस से परिपूर्ण हैं। फागु-काव्यों के ये तीनों प्रकार लौकिक शृंगार की पृष्ठभूमि पर टिके होने पर भी उद्देश्य और अंत की दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं। एक वैराग्योन्मुख करता है तो दूसरा प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में आह्लादित और तीसरा लौकिक-परिवेश में भी अलौकिक आनन्द से तन-मन को सराबोर करता है।

अस्तु, कथ्य और विवेच्य की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प और रचना-बन्ध के विचार से भी फागु-काव्य के विकास को अंकित किया जा सकता है। काव्य-रूप की परम्परा सदा एकसमान तो रहती नहीं, बदलते परिवेश और अभिरुचि के साथ उसके स्वरूप में भी परिवर्तन अवश्य होता है। जिनपद्मसूरि-कृत 'स्थूलिभद्र फागु', कृष्णर्षीय जयसिंहसूरि-कृत 'प्रथम नेमिनाथ फागु' भासों में विभक्त मिलते हैं। दूहा के उपरान्त रोला छन्द के अनेक चरण प्रयुक्त होने पर 'भास' बनता है। यह परंपरा परवर्ती 'रावणि पार्श्वनाथ फागु', 'पुरुषोत्तम पाँच पांडव फागु' तथा 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु' आदि में 15वीं सदी तक यथावत् उपलब्ध होती है। 'जिस प्रकार गरबा के अन्तर्गत बीच-बीच में साखी का प्रयोग होने से एक प्रकार का विराम उपस्थित हो जाता है और काव्य की सरसता बढ़ जाती है; उसी प्रकार प्रत्येक भास के प्रारम्भ में एक दूहा रख देने से फागु का रचनाबन्ध सप्राण हो उठता है'।[23]

किन्तु, 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इनमें बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों का भी प्रयोग किया जाने लगा, यथा – धनदेवगणि-कृत 'सुरंगाभिध नेमि फागु', रत्नमंडलगणि-कृत 'नारी निरास फागु' आदि। साथ ही, एकाधिक मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी दर्शनीय है, यथा – दूहा, त्रोटक, चालि, फागु, आंदोला, रासउ, काव्य, फागुनी ढाल आदि। कथानक का विभाजन भी 'ढालों' में मिलने लगता है, यथा – कल्याण-कृत 'वासुपूज्य मनोरम फागु'। साथ ही, अनेक राग-रागिनियों का संकेत तथा लोक-गीतों की शैली का प्रभाव 'अरे', 'हे' आदि संगीतबद्ध बोलों का प्रयोग एक नये ही रचनाबन्ध की सूचना देता है। लगता है जैसे कृष्णभक्त वैष्णव कवियों का प्रभाव इस काल में फागु की रचना-शैली पर पूर्णतः उभर आया था।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी इस समय तक गुजराती, राजस्थानी, ब्रज आदि प्रांतीय भाषाएँ पूर्णतः विकसित होकर साहित्य-संरचना में समृद्ध होने लगी थीं। अस्तु, अपभ्रंश में फागु-काव्यों का प्रणयन प्रायः अवरुद्ध-सा होने लगा था, पर इस परम्परा की दो दिशाएँ स्पष्टतः हो जाती हैं – एक का प्रसार जूनी गुजराती में देखने को मिलता है तो दूसरी का ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में।

रचना-शिल्प की दृष्टि से अपभ्रंश के फागु-काव्यों के प्रारम्भ में अन्य प्रबंध-रचनाओं की भाँति जहाँ सरस्वती एवं पूर्व तीर्थंकरों आदि की वन्दना की गई है वहाँ प्रतिपाद्य का संकेत भी कर दिया गया है, यथा –

पणमिय पासजिणंदपय अनु सरसइ समरेवी,
थूलिभद्दमुणिवइ भणिसु, फागु बंधि गुण केवी ॥ 1 ॥[24]

× × ×

पणमिवि जिण चउवीस पइं, सुमरवि सरसइ चित्ति,
नेमि जीणेसर केवि गुण, गाएसउ बहु भत्ति ॥ 1 ॥[25]

× × ×

वंदवि नाभिनरिंदसुय, रिसहेसर जिणचंदो,
गाइसु मास बसंत हुउ, भरहेसर नरविंदो ॥ 1 ॥[26]

× × × ×

पहिलउं सरसति अरचिसु, रचिसु वसंतविलासु,
वीणु धरइ करि दाहिणि, वाहणि हंसुलउ जासु ॥ 1 ॥[27]

अतएव कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के ये फागु-काव्य आकार में कहीं बड़े और कहीं छोटे होने पर भी उद्देश्य की पूर्णता, प्रकृति के साथ मानव-मन की भावात्मक एकता एवं उछाह को व्यंजित करने में नितान्त सक्षम तथा लोक-माधुरी से ओतप्रोत लघु प्रबन्धात्मक रचनाएँ हैं। 'फागु-काव्य का विकास लोक-मानस की भाव-भूमि पर हुआ है। रासक काव्य के समान संभवत: यह अपने आदि रूप में नृत्य-गीतपरक रहा होगा; कालावधि में यह साहित्यिक रूप धारण करता गया और इसकी संस्थापना अलंकृत-काव्य के रूप में हुई। इसमें गीति-तत्त्व की प्रधानता मिलती है परन्तु कतिपय कृतियों में काव्य-तत्त्व का भी समावेश मिलता है। अत: इनमें प्रबन्धात्मकता भी अनिवार्य रूप में विद्यमान है। वैसे यह बसंत-ऋतु का काव्य है'।[28] बसंत-श्री से संपन्न होने के कारण मानवीय भावों एवं प्राकृतिक छटा का मनोहारी चित्रण इस काव्य-रूप की अपनी प्रमुख विशेषता है। यही कारण है कि इनमें तत्कालीन सामान्य जनता के मुक्त एवं उल्लासपूर्ण जीवन की सुरम्य झाँकी का सहज साक्षात्कार होता है। डॉ. भोगीलाल ज. संडेसरा के शब्दों में – '14वीं शताब्दी में प्रारम्भ होकर तीन शताब्दियों तक मानवीय भावों के साथ प्रकृति का गान गाती, शृंगार के साथ त्याग और वैराग्य की तरंग उछालती हुई कविता इस साहित्य-प्रकार के रूप में प्रकट हुई'।[29] निष्कर्षत: काव्य-रूप एवं विधा की दृष्टि से इन फागु-काव्यों को लघु प्रबन्धधर्मा काव्य कहा जा सकता है।

---

1. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, अज्ञात कविकृत 'जंबूस्वामी फागु', पृ. 29।
2. 'ये फागु-काव्य मध्यकालीन समाज की रसवृत्ति के परिचायक हैं। बसंत-श्री और बसंत-क्रीड़ा ही इनका विषय है और उस पृष्ठभूमि में जैन मुनियों ने इसे नूतन मोड़ देकर अपने धर्म-प्रचार का एक साधन बनाया है। शृंगार के विप्रलंभ एवं संभोग दोनों पक्षों का निरूपण यहाँ द्रष्टव्य है।'
   – हिन्दी के आदिकालीन रास और रासक काव्य-रूप, डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी', पृ. 60।
3. वही, पृ. 95।
4. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्र. सभा काशी, स्थूलिभद्र फागु, पृ. 143।
5. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, नेमिनाथ फागु, पृ. 7।
6. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्र. सभा काशी, वसंतविलास फागु, पृ. 201।
7. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, द्वितीय नेमिनाथ फागु, पृ. 16।
8. प्राचीन फागु-संग्रह, अज्ञात कविकृत जंबुस्वामी फागु, पृ. 29।

9. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. संडेसरा, पुरुषोत्तम पाँच पांडव फागु, पृ. 43।
10. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, नेमिनाथ फागु पद्म, पृ. 50।
11. प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा, श्री अगरचन्द नाहटा, पृ. 36।
12. The rasa sung in the spring festival or phaga was itself called phaga. The phagu poems describe the glories of the spring, the lorers and their dances, and give a glimpse of the free and joyous life of Gujrat before the fourteenth century. The earliest available phaga in old Gujrati is 'Sthulibhadra phaga'.

    – Gujrat and its Literature, K.M. Munshi, page 137.

    'फागु-साहित्य में 14वीं और 15वीं शताब्दी की सामान्य जनता के मुक्त उल्लासपूर्ण जीवन का सुन्दर प्रतिबिम्ब है'।

    – रास और रासान्वयी काव्य, प्रका. ना. प्र. सभा, काशी, भूमिका, पृ. 66 ।
13. 'मृदंग सरमंडल बाजंत, भरइ भाव करी रमइ बसंत' (37), अज्ञात कविकृत चुपई फागु, प्रा. फा. संग्रह, पृ. 107।
14. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. संडेसरा, पद्म-कृत नेमिनाथ फागु, पृ. 50।
15. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. संडेसरा, जिनपद्म सूरि-कृत स्थूलिभद्र फागु, तृतीय भास, पृ. 5।
16. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्र. सभा काशी, राजशेखरि सूरि-कृत नेमिनाथ फागु, पृ. 133।
17. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. संडेसरा, गुणचंदसूरि-कृत, बसंत फागु, पृ. 52।
18. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, पृ. 3।
19. वही, अज्ञात कवि-कृत श्री भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु, पृ. 48 ।
20. वही, अज्ञात कवि-कृत जंबुस्वामी फागु, पृ. 29 ।
21. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्र. सभा काशी, भूमिका भाग, पृ. 69।
22. तनुं वृंदावन कुंजने हो, प्रगटे ग्यान बसंत,
मति गोपिनसुं हसि सवे हो, पंचइ गोप मिलंत ।1।
आतम हरि होरी खेलीये हो, अहो मेरे ललना
समति राधाजू के संगि। टेक
सुख सुरतरु की मंजरी हो, लई मनु राजा राम,
अब कइ फाग अति प्रेम कई हो,
सफल कीजे मलि स्याम. आतम ।2।

    – प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, लक्ष्मीवल्लभ-कृत 'अध्यात्म फागु', पृ. 207।
23. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. भो. ज. संडेसरा, भूमिका भाग, पृ. 50।

24. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. भो. ज. संडेसरा, स्थूलिभद्र फागु, पृ. 3।
25. वही, प्रथम नेमिनाथ फागु, पृ. 11।
26. वही, भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु, पृ. 45।
27. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्रचा. सभा, काशी, बंसतविलास फागु, पृ. 195।
28. हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. दयानन्द श्रीवासत्व, पृ. 23।
29. प्राचीन फागु-संग्रह, संपा. डॉ. भो. ज. संडेसरा, भूमिका भाग, पृ. 55।

रीडर, हिन्दी-विभाग
आगरा कॉलेज़, आगरा

संदेश-रासक में शृंगार-व्यंजना

– डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह

•

प्राणिमात्र के जीवन को 'राग' आदि से अंत तक चँदोवे की भाँति आच्छादित किये रहता है। 'रागात्मिका वृत्ति' का जन्म भी राग द्वारा ही होता है। रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित मानव कर्मशील बनकर विभिन्न कार्यों में रत रहकर जीवन में सफलता के चिह्न देखने की प्रबल इच्छा करता है। नियति के नियमन का कार्य भी इसी वृत्ति द्वारा सम्पादित होता है। इसीलिए स्त्री और पुरुष विपरीत लिंग के प्रति अर्थात् एक दूसरे के प्रति आसक्ति का अनुभव करते हैं। स्त्री और पुरुष के जीवन में आकर्षण की प्रक्रिया ही मानव/प्राणी को समरसता के शिखर पर प्रतिष्ठापित कर देती है। उस समय मनुष्य का जीवन उस दिव्य भावभूमि पर जाकर टिक जाता है जिसके सम्मुख स्वर्गिक आनंद भी फीका पड़ जाता है। अतः दो विरोधी लिंगों का आकर्षण ही प्राणिमात्र के हृदय में अनिर्वचनीय आनंद को जन्म देता है तथा उसमें भावी सृष्टि के निर्माण की अपेक्षा भी रहती है।

सृष्टि के आदिकाल से ही स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। संभवतया अभाव की इसी प्रवृत्ति ने दोनों के हृदय में व्यथा को जन्म दिया। यही कारण है कि जब दोनों एक-दूसरे के साथ मिलन-सुख की प्राप्ति के लिए अधीर हो उठते हैं तो दोनों की विह्वलता विरह की संज्ञा प्राप्त करती है तथा मिलन होने पर वही संयोग की परिणति को प्राप्त होती है। अतः स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष के मिलन की यही प्रवृत्ति शृंगार के परिवेश में आती है।

संदेश-रासक मुसलमान कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) द्वारा रचित और मुनि जिनविजयजी द्वारा संपादित शृंगारप्रधान रासक काव्यों का महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि ग्रंथ है। प्रतिनिधि ग्रंथ इसलिए है कि जिन शृंगारपरक रासक काव्यों के लिखे जाने की इस देश में परम्परा थी उनमें से अभी तक केवल संदेश-रासक ही प्राप्त हो सका है। अतएव संदेश-रासक का महत्त्व हम इसी बात से आँक सकते हैं कि अब तक प्रकाश में आनेवाले सभी रास काव्यों में केवल यही ऐसा काव्य है जिसे पूर्ण लौकिक काव्य कहा जा सकता है। इस काव्य में उत्कृष्ट काव्य-कौशल और निश्छल लोकतत्त्वों का मणिकांचन संयोग है। फलतः संदेश-रासक एक ओर जहाँ अपने काल की भारतीय काव्यगरिमा का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर वह जनजीवन की अकृत्रिम झाँकियाँ भी प्रस्तुत करता है। संदेश-रासक मुक्तकप्रधान या क्षीण प्रबंध-धर्मा मुक्तक काव्य है, जिसके अधिकांश छंदों का सौन्दर्य कथासूत्र से अलग करके पढ़ने से भी ज्यों का त्यों बना रहता है। इनके छंदों की तुलना उन मुक्तामणियों से की जा सकती है जो एक सूत्र में ग्रथित होने पर कंठहार के रूप में भी सुशोभित होते हैं और बिखरकर अलग हो जाने पर भी सुन्दर और मूल्यवान बने रहते हैं।

प्रथम प्रक्रम के आरंभिक अंश में ही संदेश-रासक के कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है -

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयबिसयेसु ।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेह रासयं रइयं ॥[1]

पश्चिम में प्राचीनकाल से अत्यंत प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है उसी प्रदेश में 'मीरसेण' नामक तंतुवाय (आरद्द) उत्पन्न हुआ। उसके पुत्र अद्दहमाण ने, जो अपने कुल का कमल था और प्राकृत काव्य तथा गीत-विषय में सुप्रसिद्ध था, संदेश-रासक की रचना की।

संदेश-रासक जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है - रासक काव्य है। कथानक के आधार पर संदेश-रासक प्रेम-काव्य है। उसमें नायिका के विरह-निवेदन की प्रमुखता है। संदेश-रासक में कुल बाईस प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु सर्वाधिक मात्रा में 'रासा' छंद ही प्रयुक्त हुआ है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस छंद का प्रयोग अद्दहमाण ने विशिष्ट स्थलों पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया है। प्रथम प्रक्रम में रासा छंद का प्रयोग बिलकुल नहीं मिलता। वहाँ कवि को आत्मनिवेदन करना है। वह अपने ग्रंथ की और पाठक की योग्यता आदि का वर्णन गाहा, रड्डा, पद्धड़िया और दुमिला में करता है। द्वितीय प्रक्रम में भी प्रथम दो छंद रड्डा हैं। किन्तु नायिका की चेष्टाओं का वर्णन करते ही कवि 'रासा' छंद का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। नायिका पथिक को देखकर मंथरगति छोड़कर द्रुतगति से क्या चलने लगी कि छंद भी नायिका की गति से चलने लगा -

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय ।
मंथर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय ॥

तह मणहर चल्लंतिय चंचल रमणभरि ।
छुडवि-खिसिय रसणावलि किंकिणि रव पसरि ॥[2]

इसी प्रकार पूरी पुस्तक में जहाँ-जहाँ 'रासा' छंद आया है वहाँ-वहाँ वह अपनी सहज गति-भंगिमा के कारण एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। ऋतुवर्णन के अंतर्गत ग्रीष्म और शिशिर वर्णन को छोड़कर 'रासा' छंद का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थलों पर हुआ है जहाँ नायिका की चेष्टाओं अथवा विभिन्न मनोदशाओं का चित्रण है। संदेश-रासक में प्रारंभिक और अंतिम अंशों को छोड़कर मुख्य ग्रंथ में प्रायः प्रति चार-पाँच छंदों का अंतर देकर 'रासा' आया है। पुस्तक में प्रयुक्त 'रासा' छंद का क्रम इस प्रकार है - 26-30, 41-58, 64-68, 91-92, 96-99, 101-103, 104, 109-110, 113, 117-118, 121-125, 130-136, 139-147, 151, 154-155, 184-190, 192-198 ।

संदेश-रासक तीन प्रक्रमों में विभाजित है। अब तक किसी अन्य ग्रंथ का विभाजन 'प्रक्रमों' में नहीं प्राप्त हुआ है। यह विभाजन कथावस्तु की तीन अवस्थाओं के आधार पर किया गया है। ईश्वर-वंदना, कवि-परिचय, ग्रंथ-परिचय तथा पाठकों से निवेदन प्रथम प्रक्रम में समाप्त हो जाता है। दूसरे प्रक्रम में विरहिणी नायिका का वर्णन और पथिक-दर्शन के उपरांत उसकी आकुलता तथा प्रिय को संदेश भेजने की उत्कंठा का चित्रण है। विरहिणी पथिक से संदेश कहती ही जाती है। जब कभी पथिक ऊबकर जाने की आज्ञा माँगता है तो वह 'चार गाहा और, तीन अडिल्ल और, केवल दो दोहे और' आदि कहकर उसे रोके रहती है। अंत में उसकी विरह-दशा सुनते-सुनते पथिक का मन भी पसीज जाता है और वह पूछता है कि हे विरहिणी ! तुम्हारी यह दशा कब से है ? फिर क्या पूछना ! नायिका को विरह का पूरा पोथा खोलने का अवसर मिल जाता है। यहाँ से तृतीय प्रक्रम प्रारंभ होता है। विरहिणी एक-एक करके छहों ऋतुओं में अपनी विरह-दशा का वर्णन करती है। इस प्रकार छहों ऋतुओं का और प्रत्येक ऋतु में अनुभूत विरह-दुःख का भरपूर वर्णन करके वह पथिक को जाने की अनुमति देती है। वहाँ से वह अपने घर की ओर मुड़ी ही थी कि उसका प्रियतम आता हुआ दिखायी पड़ता है। दोनों की भेंट होती है और इसी हर्ष-प्रसंग में रासककार अद्दहमाण भी पाठकों को शुभाशीः देते हुए विदा लेता है।

शृंगार की परिभाषा और स्वरूप

आचार्य भरतमुनि ने शृंगार की परिभाषा देते हुए कहा है कि प्रायः सुख प्रदान करनेवाले इष्ट पदार्थों से युक्त ऋतु, मालादि से सेवित, स्त्री और पुरुष से युक्त 'शृंगार' कहा जाता है -

सुख प्रायेष्ट सम्पन्न ऋतु माल्यादि सेवकः ।
पुरुषप्रमदायुक्त शृंगार इति संज्ञितः ॥[3]

धनंजय ने भरतमुनि का अनुकरण करते हुए कहा कि परस्पर अनुरक्त युवा नायक-नायिका के हृदय में रम्य-देश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन से तथा उनके अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा परिवर्धित रति ही आनंदात्मक शृंगार रस है -

रम्यदेश कलाकालवेषभोगादि सेवनैः
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः
प्रहृष्यमाणः श्रृंगारो मधुरांग विचेष्टितैः ।[4]

भोज ने श्रृंगार को और अधिक प्रकर्ष प्रदान किया। उन्होंने अहं भाव के आत्मस्थित गुण विशेष को श्रृंगार की संज्ञा देकर उसकी व्यापकता का विस्तार किया। उनके अनुसार - अहंबोध युक्त आत्मयोनिमनसिज के प्राण को ही आचार्यों ने श्रृंगार की संज्ञा प्रदान की है। यह श्रृंगार आत्मा में स्थित उसी आत्मा का विशिष्ट गुण है। श्रृंगार आत्मशक्ति के द्वारा रसनीय होने के कारण ही रस कहलाता है। रस के इस आस्वाद-बोध से युक्त होने के कारण ही सहृदय को रसिक-संज्ञा प्राप्त होती है -

आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
श्रृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ।
तस्यात्मशक्तिरसनीय तथा रसत्वं
युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥[5]

आचार्य विश्वनाथ ने काम के अंकुरण को ही श्रृंगार की संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है कि मन्मथ का उद्भेद ही श्रृंग कहलाता है। इस विकास का कारण ही श्रृंगार कहलाता है। श्रृंग+आर (आगमन) उत्तम या आदर्श प्रकृति का भाव होने के कारण यह रसरूप में स्वीकृत किया जाता है -

श्रृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः श्रृंगार इष्यते ॥[6]

भानुदत्त ने श्रृंगार को अत्यन्त परिष्कृत रूप देते हुए कहा कि युवा दम्पति का परस्पर एवं सर्वथा पूर्ण प्रकृष्ट आनंदात्मक भाव अथवा उनका परम पवित्र एवं अखण्ड आनंदात्मक अनुरागानुभव ही श्रृंगार रस है - "**यूनोः परस्परं परिपूर्णः सम्यक् सम्पूर्ण रति भावो वा श्रृंगारः।**"[7] पंडितराज जगन्नाथ ने श्रृंगार के कलेवर को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है - प्रेम की संज्ञा प्राप्त करनेवाली विशिष्ट प्रकार की चित्तवृत्ति ही, अपने सहज एवं स्थिर अस्तित्व के कारण क्रीड़ात्मिका रति का स्थायीभाव बनती है - "**स्त्रीपुंसयोरन्योरन्यालम्बनः प्रेमाख्याश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः। गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।**"[8]

महाराज भोज की परिभाषा के अतिरिक्त उपर्युक्त समस्त आचार्यों की परिभाषाओं में पर्याप्त साम्य है। लगभग सभी ने श्रृंगार की पुष्टि के लिए स्त्री-पुरुष को आलम्बन-रूप में स्वीकार किया है जिसका अभिप्राय यह है कि समान लिंगवाले व्यक्तियों की मित्रता अथवा प्रीति को श्रृंगार के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। तथा दो भिन्न लिंगवाले व्यक्तियों का प्रेम भी वासना-विहीन हो सकता है, जैसे - भाई और बहन का प्रेम। किन्तु स्थान-स्थान पर विभिन्न विद्वानों द्वारा काम, संभोग, शारीरिक चेष्टाओं आदि के उल्लेख से यह बात स्वत: ही सिद्ध हो जाती है कि श्रृंगार के अंतर्गत काम-समन्वित प्रेम ही लिया जा सकता है। पंडितराज जगन्नाथ

का गुरु, देवता, पुत्र विषयक रति के संबंध में व्यभिचारी का कथन इसी तथ्य को द्योतित करता है। अतएव श्रृंगार के अंतर्गत वात्सल्य एवं शुद्ध मित्रता के भाव को कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता।

महाराज भोज का दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक है। उन्होंने मानव-हृदय में स्थित अहंभाव को ही श्रृंगार का दूसरा रूप स्वीकार किया है। मानव-हृदय में अहं का बीज प्रारम्भ से ही विद्यमान रहता है। इसी से मनुष्य के हृदय में रत्यादि भावों की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार यह आत्मा का अंतिम सत्य है। यही रस है जिसमें आत्मा को चरम आनंद की उपलब्धि होती है। वह आत्मा का अपने प्रति प्रेम है। इसे आत्मानुरक्ति अथवा आत्मकाम भी कह सकते हैं।[9] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भोज ने दाम्पत्य-श्रृंगार के साथ-साथ समस्त बाह्य संसार को श्रृंगार की परिधि में समेट लिया है। अतएव यहाँ श्रृंगार का रूप व्यष्टिगत न रहकर समष्टिगत हो जाता है। जहाँ तक श्रृंगार की सैद्धान्तिक परिभाषा का प्रश्न है वहाँ अपभ्रंश के अधिकांश कवियों ने संस्कृत के प्रतिनिधि तथा मान्य कवियों का ही अनुगमन किया है।

श्रृंगार की उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के विवेचन-विश्लेषण के बाद संक्षिप्त रूप में श्रृंगार के विषय में यही बात कही जा सकती है कि स्त्री-पुरुष दोनों के हृदय में स्थित रति स्थायीभाव जब काम से समन्वित होकर दोनों में परस्पर आकर्षण का भाव उत्पन्न कर देता है तो वही भावना श्रृंगार की संज्ञा प्राप्त करती है।

श्रृंगार रस के भेद

आनंदवर्धन ने रसों की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि प्रधानभूत श्रृंगार रस के प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, संभोग (-श्रृंगार) और विप्रलंभ (-श्रृंगार)। उनमें भी संभोग के परस्पर प्रेम-दर्शन (दर्शन संभाषणादि का भी उपलक्षण है) सुरति (और उद्यान) विहारादि भेद हैं। (इसी प्रकार) विप्रलंभ के भी अभिलाषा, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलंभादि (शापादि निमित्तक वियोगादि) भेद हैं। उनमें से प्रत्येक (भेद) के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के (भेद से) भेद हैं और उन (विभावादि) के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था (आदि से) भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक (श्रृंगार) की परिभाषा करना (ही) असंभव है, फिर उनके अंगों के भेदोपभेद की कल्पना की तो बात ही क्या है ! वे अंगों (अलंकारादि) के प्रभेद प्रत्येक अंगी (रसादि) के प्रभेदों के साथ संबंध कल्पना करने पर अनंत हो जाते हैं।[10]

आनंदवर्धन के अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक श्रृंगार रस के ही अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, लेकिन मुख्य रूप से विद्वानों ने उसके दो भेद ही स्वीकार किये हैं - संयोग और वियोग अथवा संभोग एवं विप्रलंभ। आनंद प्रकाश दीक्षित के अनुसार - ''मुख्यतः नायक-नायिका के संबंधों की कल्पना करके उनका संयोग और वियोग अथवा संभोग तथा विप्रलंभ नामक भेदों में विभाजन किया गया है। साहित्यिक क्षेत्र में इसी वर्णन के भेदोपभेदों का वर्णन किया जाता है। इन भेदों के अतिरिक्त चतुर्वर्ग के आधार पर भी इसका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु उसका प्रचलन नहीं दीख पड़ता।''[11]

इस प्रकार शृंगार के मुख्य भेद संयोग और वियोग ही हैं। आचार्य रुद्रट ने संयोग और विप्रलंभ की चर्चा करते हुए लिखा है –

संभोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलंभोऽसौ ।
पुनराप्येष द्विधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥[12]

अर्थात् संग पुरुष और नारी के रति व्यवहार को संभोग (संयोग) और वियुक्त पुरुष तथा नारी के रति व्यवहार को विप्रलंभ कहते हैं। ये दोनों फिर प्रच्छन्न और प्रकाश के नाम से दो प्रकार के हैं। यहाँ रुद्रट ने प्रच्छन्न और प्रकाश के तात्पर्य को स्पष्ट नहीं किया। संभवतया इस प्रभेद का निर्धारण प्रेमियों के एकांत में परस्पर व्यक्त हाव-भाव प्रकाशित तथा भीड़ में प्रच्छन्न प्रेम की स्थिति के आधार पर किया गया है। लेकिन इस परिभाषा से स्पष्ट यह आशय निकलता है कि जहाँ नायक-नायिका एक-दूसरे के सामीप्य में न रहकर रति का अनुभव करें वहाँ विप्रलंभ होगा।

इस प्रकार शृंगार के प्रमुखतया दो भेद – संयोग और वियोग का ही अधिक प्रचलन देखा जाता है। अपभ्रंश कवियों ने भी मुख्य रूप से इन्हीं दो भेदों को अपनाया है एवं इन्हीं के अनुसार अपने वर्णन किये हैं।

शृंगार के अवयव

शृंगार रस के प्रसंग में आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित सूत्र – "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पतिः" को ही प्रमुख आधार माना जाता है। शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव – इन तीनों का समुचित संयोग होना आवश्यक माना गया है। यहाँ विषय के संदर्भ में इन प्रमुख अवयवों पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है –

विभाव

जिसके कारण हृदय में रस का प्रादुर्भाव होता है उसे विभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं – आलंबन और उद्दीपन –

जाको रस उत्पन्न है, सो विभाव उर आनि ।
आलम्बन उद्दीपनो, सो द्वै विधि पहिचानि ॥[13]

आलम्बन विभाव के अंतर्गत नायक और नायिका – दो भेद स्वरूप निरूपित किये जाते हैं एवं चन्द्र, सुमन, सखि, दूति, अंगरागादि-प्रसाधन-उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं –

जानौ नायक नायिका, रस-सिंगार-विभाव ।
चन्द्र सुमन सखि दूतिका, रागादिकौ बनाव ॥[14]

भिखारीदास ने विभाव के दो भेदों (आलम्बन और उद्दीपन) का यद्यपि यहाँ नाम नहीं लिया है किन्तु दोनों विभावों की व्यंजना अनायास ही हो जाती है।

नायिका-वर्णन

भरतमुनि ने प्रकृति, यौवनानुसार, सामाजिक दृष्टि से तथा शील और अवस्था के अनुसार नायिकाओं के भिन्न-भिन्न भेदों की कल्पना की है।[15] इन भेदों में से परवर्ती आचार्यों ने रसिकता

के दृष्टिकोण के अनुसार कुछ का तो परित्याग कर दिया और कुछ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। आगे चलकर 'नायिका-निरूपण' के क्षेत्र में 'साहित्य दर्पण' और 'रसमंजरी' ने अच्छा योगदान किया।

नायक-वर्णन

नायिका वर्णन के समान ही नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने नायकों की जो श्रेणियाँ निर्धारित की हैं[16] उन्हें परवर्ती आचार्यों ने यथासम्भव परिवर्तित कर स्वीकार किया।

इस प्रकार नायिका और नायक भेद की जिस दृष्टि का शृंगार के आलंबन विभाव के रूप में संस्कृत के ग्रंथों में प्रचलन हुआ उसे अपभ्रंश की काव्यधारा के अंतर्गत कमोबेश आश्रय प्राप्त हुआ।

उद्दीपन विभाव

आचार्य भोजराज ने शृंगार रस के उद्दीपन विभाव की कल्पना पाँच वर्गों में विभाजित करके की है – (1) ऋतु, (2) बाह्य-प्रसाधन, यथा – मलय एवं अंगराग इत्यादि, (3) प्राकृतिक दृश्य, जैसे – सरिता, उपवन, पर्वत आदि, (4) काल – रात्रि, मध्याह्न आदि, (5) 64 कलाएँ।[17]

अतः इस वर्गीकरण के अनुसार उद्दीपन विभावों की श्रेणी में चन्द्र-चाँदनी, ऋतु, उपवन, मलय-पवन, अंगरागादि को लिया जा सकता है। पं. रामदहिन मिश्र ने इस विषय में अपना मत देते हुए कहा है – ''सखी, सखा तथा दूती को संस्कृत के आचार्यों ने शृंगार रस में नायक-नायिका के सहायक एवं सचिव माना है, किन्तु हिन्दी में इनकी गणना उद्दीपन विभाव में की है। इनके उद्दीपन विभाव मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सखा, सखी या दूती के दर्शन से नायिकागत या नायकगत अनुराग उद्दीपित होता है। भरतमुनि के वाक्य में प्रियजन शब्द के आने से संभव है हिन्दीवालों ने इन्हें उद्दीपन में मान लिया है।''[18] पंडित रामदहिन मिश्र ने नायक-नायिका की वेशभूषा, चेष्टा आदि, पात्रगत तथा षड्ऋतु, नदीतट, चाँदनी, चित्र, उपवन, कविता, मधुर संगीत, मादक वाद्य, पक्षियों का कलरव आदि को भी शृंगार के बहिर्गत उद्दीपन-रूप में स्वीकार किया है।[19] इसके अतिरिक्त नायिका का नख-शिख सौन्दर्य भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है।

अनुभाव

शृंगारिक अनुभावों में प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेह-स्निग्ध परस्परावलोकन, आलिंगन, चुम्बन, रोमांच, स्वेद, कम्प, नायिका के भ्रूभंग आदि अनेक भाव आते हैं। आचार्यों ने इनको कायिक, वाचिक और मानसिक वर्गीकरण के रूप में विभाजित कर दिया है।

संचारी भाव

समस्त विद्वानों ने संचारी भावों की संख्या 33 स्वीकार की है। इनमें उग्रता, मरण तथा जुगुप्सा के अतिरिक्त उत्सुकता, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, मोह, चिन्ता आदि सभी भाव शृंगार रस के संचारी भाव होते हैं। ये संचारी भाव शृंगार के व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

स्थायी भाव

श्रृंगार का स्थायी भाव रति है। इस भाव को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है – भरतमुनि के अनुसार – ''तत्र रतिर्नाम आमोदात्मको भावः।''[20] अर्थात् रति ही आत्मा को आमोद (प्रसन्नता) प्रदान करनेवाला भाव है। धनंजय के ''प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्य रक्तयोः।''[21] के अनुसार आत्मा को प्रसन्नता प्रदान करनेवाला रति भाव ही युवाओं (प्रेमी-प्रेमिका) को एक-दूसरे की ओर अनुरक्त करता है। पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार – ''स्त्री पुरुषयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यचित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायीभावः।''[22] अर्थात् एक-दूसरे के आलम्बन-स्त्री-पुरुष की प्रेम नामक चित्तवृत्ति विशेष ही रति नामक स्थायी भाव है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टिगत कर रति की परिभाषा कुछ इस प्रकार की जा सकती है – एक-दूसरे के आलम्बन-स्त्री-पुरुष के हृदय में विद्यमान प्रेम नाम की चित्तवृत्ति को उन्मीलित कर जो भाव प्रेमियों को परस्पर आकर्षण की प्रेरणा देता हुआ उनकी आत्मा को प्रसन्नता प्रदान करता है उसी स्थायी भाव को रति की संज्ञा दी जा सकती है।

श्रृंगार और उसके अवयवों पर प्रकाश डालने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रृंगार' के 'रति' नामक स्थायी भाव को श्रृंगार रस की अवस्था तक पहुँचाने में सर्वप्रमुख कारण उसका विभाव बनता है जो दो प्रकार का है – पहला आलम्बन और दूसरा उद्दीपन। पहले में नायक-नायिका और दूसरे में सखा, सखी, दूती, वातावरण एवं नायक-नायिका के सौन्दर्य इत्यादि का समावेश रहता है। नायिका के सौन्दर्य के आकर्षण ने ही सम्भवतया कवियों को नायिका के नख-शिख-वर्णन की ओर प्रवृत्त किया।

नायक और नायिका के हृदय में रति भाव की पुष्टि होने पर अनुभाव के रूप में वे परस्पर स्तम्भ, स्वेद तथा रोमांच इत्यादि सात्विकों की अनुभूति करते हैं; क्योंकि रति की छत्रछाया में 'लज्जा' नामक संचारी भाव रहता है जो कि नायक और नायिका के हृदय को प्रेम का मधुर एवं अनिर्वचनीय आस्वाद कराने में समर्थ होता है। आचार्यों ने नायक-नायिका भेद और नायिका के नख-शिख का वर्णनकर श्रृंगार-वर्णन को और भी अधिक पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

अंततोगत्वा श्रृंगार के समग्र विवेचन-विश्लेषण के आधार पर उसके वर्णन को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है – (1) संयोग, (2) वियोग, (3) नायक-नायिका भेद, (4) नख-शिख-सौन्दर्य। यद्यपि नायक-नायिका भेद और नख-शिख-सौन्दर्य श्रृंगार के संयोग और वियोग पक्ष के ही अंग हैं किन्तु कवियों ने श्रृंगार के विस्तार में इन दोनों का अलग-अलग ही निरूपण किया है। श्रृंगार का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करते हुए उसके काम, प्रेम और सौन्दर्य – इन तीन तत्वों को यद्यपि लिया जाता है, फिर भी इनकी परिणति अंत में संयोग और वियोग में ही हो जाती है। वस्तुतः काम-भावना और प्रेम-भावना श्रृंगार के संयोग तथा वियोग – दोनों पक्षों में ही निहित रहती है तथा ये दोनों नायिका के सौन्दर्य पक्ष पर ही विशेष रूप से अवलम्बित रहती हैं।

संदेश-रासक : रूप-वर्णन और उपमा विधान

संदेश-रासक के कवि श्री अद्दहमाण ने यद्यपि रूप-वर्णन के लिए अधिकांशतः परंपरागृहीत उपमानों का ही आश्रय लिया है, फिर भी उन्होंने अपने हृदय-रस से स्निग्ध करके उसे वास्तविक और हृदयस्पर्शी बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाण ने स्वच्छंद कल्पना-शक्ति का भी परिचय दिया है जो उनके संवेदनशील कवित्व का परिचायक है; जैसे केशों की उपमा 'अलिकुलमाला' से देने के पूर्व वे उसकी उपमा पिशुन की कुटिलता से देते हैं –

> अइकुडिल माइपिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला ।
> किसणत्तणंमि अलया अलिउलमाल व्व रेहंति ॥ 32 ॥

'संदेश-रासक' में एक ही स्त्री-पात्र होने के कारण केवल विरहिणी नायिका के ही रूप-वर्णन का अवकाश है। यत्र-तत्र नगर या षड्ऋतु वर्णन के प्रसंग में साधारण स्त्रियों का वर्णन भी कवि ने लगे हाथों कर दिया है। उस प्रोषितपतिका का रूप-वर्णन भी जमकर एक ही स्थान पर किया गया है। अन्य स्थानों पर उसकी विरह-दशा की व्यंजना के लिए ही आनुषंगिकरूप से उसके रूप या शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन किया गया है।

द्वितीय प्रक्रम के प्रारंभ में ही विजयनगर की विरहिणी नायिका की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है – विजयनगर की कोई ऐसी सुन्दरी रमणी जो ऊँचे, स्थिर और स्थूल स्तनोंवाली है, जिसकी कटि भिड़ के समान पतली है, जिसकी गति हंस के समान है और जिसका मुखमंडल दीन हो गया है, दीर्घतर अश्रुजल प्रवाह करती हुई पथ निहार रही है। स्वर्ण के समान अंगोंवाली उस रमणी का शरीर विरहाग्नि से इस प्रकार श्यामल हो गया है मानो राहु द्वारा चन्द्रमा सम्पूर्ण ग्रस लिया गया हो –

> विजयनयरहु कावि वररमणि,
> उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्कि, थयरट्ठपउहरि ।
> दीणाणहि पहुणिहइ, जलपवाह पवहंति दीहरि ।
> विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु ।
> णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु ॥ 24 ॥

किन्तु हृदय खोलकर उस नायिका के रूप-वर्णन का अवकाश कवि को तब मिलता है जब वह पथिक के पास पहुँचती है। पथिक ने नायिका को इस रूप में देखा –

उस विरह-विदग्धा नायिका की अति कुटिल केशराशि नदी की जल-वीचियों के समान थी। वे कृष्णत्व के कारण भ्रमर-समूह की भाँति लगती थीं। रात्रि के तम का नाश करनेवाले अमृतस्रावी पूर्णचन्द्र के समान उस रमणी का मुख निष्कलंकता में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है। दीर्घतर रागयुक्त युगल लोचन मानो अरविन्द-दल हैं और तरुण कपोल दाड़िम-कुसुम पुंज की भाँति सुन्दर हैं –

रयणीतमविद्दवणो अमियंझरणो सुपुण्णसोमोय ।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं ॥ 33 ॥
लोयणजुयं च णज्जइ रविदलं दीहरं च राइल्लं ।
पिंडीरकुसुमपुंजं तरुणिकवोला कलिज्जंति ॥ 34 ॥

विरहिणी नायिका के बाहु-युगल अमरसर (मानसरोवर) में उत्पन्न कोमल मृणाल नाल के समान हैं। इन बाहुओं के आखिरी किनारे पर कमल के समान हाथ ऐसे लग रहे हैं मानो द्विधाभूत (एक से दो कर दिये गये) पद्म हों। दोनों स्तन सुजन और खल की तरह हैं; स्तब्ध नित्य उन्नत और मुखरहित (छिद्ररहित) होने के कारण खल की भाँति हैं और मिलने पर (संगम में) सुजन की भाँति वे दोनों (स्तन) अंगों को आश्वस्त करते हैं –

कोमल मुणालणलयं अमरसरुपन्न बाहुजुयलं से ।
ताणंते करकमलं णज्जइ दोहाइयं पउमं ॥ 35 ॥
सिहणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुन्नया य मुहरहिया ।
संगमि सुयणसरिच्छा आसासहि बेवि अंगाइँ ॥ 36 ॥

पर्वतीय नदी के गंभीर आवर्त की भाँति उस नायिका की नाभि थी और कटि मर्त्य सुख की भाँति सूक्ष्म है, जो तरलगति का हरण करनेवाली है; अर्थात् जिसके कारण वह तेजी से चल नहीं पाती। उसके अति रम्य उरु कदली-स्तंभ से बढ़कर हैं। सरस और सुमनोहर जंघाएँ वृत्ताकार और नातिदीर्घ हैं। चरणों की अंगुलियाँ पद्मराजि की तरह हैं। नखपंक्ति स्फटिक खण्डों की भाँति हैं और कोमल रोम तरंग उद्भिन्न कुसुमनाल की भाँति हैं –

गिरिणइ समआवत्तं जोइज्जइ णाहिमंडलं गुहिरं ।
मज्झं मच्चसहं भिव तुच्छं तरलग्गई हरणं ॥ 37 ॥
जालंधरिथंभजिया उरु रेहंति तासु अइरम्मा ।
वट्टा य णाइदीहा सरसा सुमणोहरा जंघा ॥ 38 ॥
रेहंति पउमराइ व चलणंगुलि फलिहकुट्टिणहपंती ।
तुच्छं रोमतरंगं उब्बिन्नं कुसुमनलएसु ॥ 39 ॥

इस प्रकार अपने रूप-वर्णन को सुनकर वह राजमरालगामिनी लज्जावती वियोगिनी पैर के अंगूठे से धरती कुरेदने लगी। इस वियोगिनी नायिका के रूप-वर्णन के अतिरिक्त कवि श्री अद्दहमाण ने साम्बपुर की स्त्रियों का भी रूप-वर्णन परंपरित ढंग से बड़ा ही सरस एवं सहज रूप में किया है। कवि साम्बपुर की वेश्याओं को देखकर विस्मित हो जाता है। वह देखता है – विशाल गज के समान मंथर चलनेवाली कोई नर्तकी या वेश्या मदविह्वल होकर घूमती है। किसी अन्य के (कानों में पहने हुए) रत्न ताटंक हिलते हैं। और कहीं निपट उभरे हुए घनतुंग वक्षस्थलोंवाली सुन्दरी भ्रमण कर रही है, बड़े स्तनों के भार से कमर टूट नहीं जाती, यही देखकर मन में आश्चर्य होता है, किसी व्यक्ति के साथ उन कजरारी तिरछी आँखों से, जिनमें बनावटी कोप का भाव है, हँस-हँस कर बात कर रही हैं। कोई अन्य सुविचक्षणा जब विमल हँसी हँसती

है तो उसके कपोल प्रदेश ऐसे लगते हैं मानो चन्द्र में सूर्य प्रविष्ट हो गया है (यहाँ चन्द्र उसका मुख है और हँसी से उत्पन्न शोभा सूर्य है), किसी का मदनपट्ट मृगनाभि से चर्चित है, किसी ने अपना भाल (या स्तन भार ?) तिरछे तिलक से अलंकृत कर रखा है –

अवरकहव णिवडुब्भर घणतुरंग त्थणिहिँ,
भरिण मञ्झु णहु तुट्टइ ता विंभिउ मणिहिँ ।
कावि केण सम हसइ नियइमइकोइणिहि,
छित्तुच्छताभिच्छ तिरच्छिय लोइणिहि ॥47॥
अवर कावि सुवियक्खिण विहसंतिय विमलि,
णं ससि सूर णिवेसिय रेहइ गंडयलि ।
मयणवट्टु मिअणाहिण कस्सव पंकियउ,
अन्नह भालु (भारु) तुरक्कि तिलक आलंकियउ ॥48॥

किसी का मज़बूत और स्थूल मुक्ताओं वाला हार मार्ग न पाने के कारण स्तनपट्ट के शिखर पर लोटता है, किसी का गंभीर नाभिविवर कुंडलाकार है और त्रिवली तरंगों से मंडलित है। कोई रमणी गुरुविकट रमण भार (नितंब) को अत्यंत कष्ट से धारण कर रही है, जिससे उसकी गति में विस्मयकारक लीलायित गति आ गयी है। वह शीघ्रता से चल नहीं पाती। मधुर अधर बोलती हुई किसी कामिनी के हीरपंक्ति सदृश दाँत पान खाने के कारण आरक्त दिखायी पड़ते हैं –

हार कसवि थूलावलि णिट्ठुर रयणभरि,
लुलइ मग्गु अलहंत्तउ थणवट्टह सिहरि ।
गुहिर णाहिविवरंतरु कस्सवि कुंडलिउ,
तिवल तरंग पसंगिह रेहइ मंडलिउ ॥49॥
रमणभारु गुरुवियडउ का कट्ठहि धरइ,
जइ मल्हिरउ चमक्कउ तुरियउणहु सरइ ।
जंपंती महुरक्खर कस्सव कामिणिहिँ,
हीरपंतिसारिच्छ डसण झसुरारुणिहिँ ॥50॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्दहमाण ने कहीं भी केवल चमत्कारी उपमानों का सहारा लेकर रूप-वर्णन के नाम पर खिलवाड़ नहीं किया है। चमत्कारप्रियता का लोभ संवरण कर इन्होंने उपयुक्त उपमानों के व्यवहार से शरीर-सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। "संदेश-रासक के कवि ने स्वाभाविकता की उपेक्षा कहीं नहीं होने दी है। परंपरा विहित उपमानों को ग्रहण करने पर भी उन्होंने अपनी मौलिकता और सूक्ष्म निरीक्षण का पूरा उपयोग किया है।"[23]

संदेश-रासक में ऐसे कई मार्मिक उपमान हैं जो शरीर की बाह्य दशा के अंकन की अपेक्षा अंतर्दशा का चित्रण अत्यन्त मार्मिक ढंग से करते हैं। ऐसे स्थलों पर कवि की संवेदनशीलता और सशक्त कवित्व क्षमता को देखा जा सकता है –

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भवयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।
तोड़ि करंगुलि करुण सगग्गिर गिर पसरु,
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरु ॥66॥

वह चन्द्रमुखी, कमलाक्षी मुग्धा ये वचन सुनकर दोर्घोष्ण श्वास लेती हुई हाथ की अंगुलियाँ तोड़कर करुण गद्‌गद शब्द करती हुई वायु-प्रताड़ित कदली की भाँति देर तक थरथराती रही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संदेश-रासककार ने यद्यपि अधिकांश परंपरागृहीत उपमानों का ही प्रयोग किया है, फिर भी अपनी काव्योचित सहृदयता से उन्हें प्राणवंत बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाण ने स्वच्छंद पद्धति, विरल प्रयुक्त या नये उपमानों का प्रयोग करके अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। संदेश-रासक में मात्र बाह्य रूप-वर्णन ही नहीं है, अपितु गहरे जाकर हृदय पर पड़नेवाले रूप-प्रभाव को भी उपमानों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

संस्कृत में रुय्यक आदि कतिपय अलंकारवादी आचार्यों ने उपमा को समस्त अलंकारों का बीज माना है – "उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता।" जो हो, साम्यमूलक अलंकार-योजना के अंतर्गत जो सामान्य विषय गृहीत होते हैं, उन्हें अलंकार-शास्त्र की शब्दावली में प्राय: 'उपमान' अथवा 'अप्रस्तुत' कह दिया जाता है।[24] प्रयोग की दृष्टि से ये (अप्रस्तुत अथवा उपमान) दो प्रकार के कहे जा सकते हैं –

(1) परंपरागत

अर्थात् ऐसे पदार्थ जो विशिष्ट पदार्थों के विशिष्ट रूप, गुण अथवा क्रिया के लिए युगों से व्यवहार में आते रहे हैं और उनके लिए एक प्रकार से अत्यन्त रूढ़ हो गये हैं तथा –

(2) नवीन

अर्थात् ऐसे पदार्थ जो रूपादि-संबंधी अपनी सर्वानुभूत विशेषताओं को रखते हुए भी विशेष प्रकार के पदार्थों के लिए कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुए एवं प्रत्येक कवि ने उन्हें अपनी इच्छा से विशिष्ट बिम्बों के भीतर नियोजित किया है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि साम्यमूलक अलंकारों के भीतर परंपरागत तथा नवीन इन दो प्रकार के उपमानों का प्रयोग होता है तथा वर्ण्य-विषय की विशेषताओं के आधार पर इनकी योजना चार प्रकार की हो सकती है –

(1) स्थूल के लिए स्थूल
(2) स्थूल के लिए सूक्ष्म
(3) सूक्ष्म के लिए सूक्ष्म तथा
(4) सूक्ष्म के लिए स्थूल।[25]

संदेश-रासककार ने अपने साम्यमूलक अलंकारों के अंतर्गत इन दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों अथवा उपमानों तथा उनकी उक्त चारों प्रकार की योजना को न्यूनाधिक रूप से यथावश्यकता ग्रहण किया है। संदेश-रासक में आये हुए उपमानों की संक्षिप्त तालिका इस प्रकार हो सकती है –

क्रमांक	उपमेय	उपमान
1.	शरीरकांति	स्वर्णाभा
2.	केश	जलकल्लोल, भ्रमरावलि
3.	मुख	अंमृतस्रावीचंद्रमा, कमल
4.	नेत्र	कमल
5.	कपोल	दाड़िम पुष्पसमूह
6.	बाहु	दोहरे कमलनाल
7.	स्तन	कलश, सज्जन, दुर्जन
8.	नाभि	पर्वतीय नदी का आवर्त
9.	कमर	भिड़ की कमर, मनुष्य का सुख
10.	ऊरु	कदली स्तंभ
11.	पैरों की अंगुलियाँ	पद्मराग
12.	नख	स्फटिक-खंड
13.	रोम	मृणालतंतु
14.	गति	हंस गमन
15.	विरहजन्य श्यामता	राहु-ग्रहण, धूम की कालिमा।[26]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संदेश-रासक के कवि श्री अद्दहमाण ने रूप-वर्णन में एवं उपमानों के प्रयोग में कहीं भी स्वाभाविकता की उपेक्षा नहीं की है। परंपरा-विहित उपमानों को ग्रहण करने पर भी उन्होंने अपनी मौलिकता और सूक्ष्म निरीक्षण का पूरा उपयोग किया है। इस वर्णन में सर्वत्र उनका आग्रह एवं मनोयोग दृष्टिगत होता है। कवि ने केवल परंपरागत उपमानों को ही प्राचीन और नवीन ढंग से ही प्रस्तुत नहीं किया – नवीन उपमानों को कहीं स्वतंत्र रूप से और कहीं पर परंपरागत उपमानों के साथ ग्रहण किया है। दूसरे ये उपमान कहीं पर अकेले और कहीं पर एकसाथ समूह में प्रस्तुत किये गये हैं और अपनी विशेषताओं द्वारा केवल विषय के स्वरूप को स्पष्ट ही नहीं करते, इससे आगे कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी करते हैं, जो कि प्रत्येक सफल कवि का उद्देश्य रहा करता है।

विरह-वर्णन

संदेश-रासक का मुख्य विषय विरह-वर्णन है। यह विरह-वर्णन आशाबंधकुसुमसदृशा प्रेमातुरा प्रोषितपतिका विरहिणी नायिका द्वारा पथिक के माध्यम से संदेशप्रेषण के रूप में किया गया है। विरहिणी पथिक द्वारा अपने दारुण विरह-विवरण को पति के पास पहुँचाना चाहती है जिससे द्रवित होकर वह परदेश से शीघ्र ही घर लौट आये। भारतीय साहित्य में विरहिणी

नायिका का किसी अन्य के द्वारा प्रवासी प्रिय के पास संदेश-प्रेषण एक ऐसी महत्त्वपूर्ण और व्यापक काव्यरूढ़ि रही है कि इसका उपयोग प्रेमकाव्य के रचयिताओं ने जी खोलकर किया है। इन कवियों ने संदेश ले जाने के लिए हंस, शुक, भ्रमर, मेघ आदि मानवेतर जीवों तथा अचेतन वस्तुओं को भी इस कार्य में नियोजित किया है। प्रेम की भूमिका पर जड़-चेतन के एकत्व का यह विधान भारतीय कवि हृदय की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

संदेश-रासक की नायिका प्रोषितपतिका है। प्रिय ने परदेश से संभवतः कोई संदेश नहीं भेजा था। कवि ने प्रारंभ में ही उस वियोगिनी के रूप-वर्णन द्वारा व्याकुलता और विरहकातरता व्यंजित कर दी है -

दीणाणहि पह्णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहरि ।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु ।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु ॥24॥
फुँसइ लोयण रुवइ दुक्खत्त,
धम्मिल्लपमुक्कमुह विज्जंभइ अणु अंगु मोडइ ।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ ।
इम मुद्धह विलवंतियह महि चलणेहि छिहंतु ।
अद्धड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु ॥25॥

वह दीनमुखी आँखों से जलधार बहाती हुई अपने पति की राह जोह रही है। विरहाग्नि से उसके शरीर की हेम आभा श्यामल हो गयी है मानो चन्द्रमा को राहु ने पूर्णरूप से ग्रस लिया हो। वह दुःखार्ता होती है और आँखों को पोंछती जाती है। उसका जूड़ा खुला हुआ है, वह अंगों को पीड़ा के कारण मोड़ती है, विरहानल से संतप्त वह लम्बी साँसें ले रही है और अपनी अंगुलियों को तोड़ रही है।

पथिक को देखकर पति के पास संदेश भेजने की उत्कंठा से वह वियोगिनी नायिका मंथर गति को सरल करके उतावली से चल पड़ी। शीघ्रता के कारण उसके मनोहर चंचल नितंबों से करधनी खिसककर गिर पड़ी जिससे उसकी किंकिणियों का स्वर फैल गया। उस सुन्दरी ने जैसे-तैसे अपनी मेखला को स्थिर किया ही था कि स्थूलमुक्ताओं की हार-लता टूट गयी। बेचारी ने किसी तरह जल्दी में कुछ मुक्ताएँ वैसे ही पड़ी रहने दीं, कुछ उठायीं, तब तक चरणों की दुर्बलता के कारण नूपुर ही निकल गया -

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय ।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि ॥26॥
तं जं मेहल ठवइ गंठि णिटठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय ।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय ॥27॥

यह है संदेश-रासक के विरह-वर्णन की भूमिका। इसमें नायिका के भावों को कहकर नहीं प्रत्युत भावविकल चेष्टाओं का सुस्पष्ट और संवेदन-स्पंदित चित्र खींचकर व्यंजित किया गया है। सजीवता, स्वाभाविकता, मार्मिकता और छंदगति चारों की अनुरूपता के कारण इस वर्णन में अपूर्व गत्वर चित्रात्मकता आ गयी है।

संदेश-रासक के विरह-वर्णन में अत्युक्तियों का सहारा न लेकर बात को सीधे और मार्मिक ढंग से कहा गया है। इसमें कल्पना को कोरी उड़ान और ऊहात्मकता भी नहीं मिलती। विरहिणी की उक्तियों में भंगिमा उसकी सहज भाव-तीव्रता के कारण है, उसमें प्रेषणीयता व्यापक और प्रगाढ़ संवेदना के कारण है, अलंकार-योजना और नीरस उत्प्रेक्षाओं के कारण नहीं। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में – ''अपभ्रंश साहित्य की ताजगी, मस्ती और लोक-जीवन की अकृत्रिमता संदेश-रासक के विरह-वर्णन में सुरक्षित है।''[27] संदेश-रासक में व्यवस्थित ढंग से विरह की दस दशाओं का वर्णन नहीं किया गया है। इसमें अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता आदि अवस्थाओं का वर्णन विभाजन करके क्रमबद्ध ढंग से नहीं किया गया है। प्रयास करने पर भी संदेश-रासक में ये सभी अवस्थाएँ नहीं मिलेंगी।

पथिक के उतावलेपन को देखकर विरहिणी ने दीर्घोच्छ्वास लेकर कहा – हे पथिक ! मेरे आशा-सुख में विघ्न डालनेवाले निर्दय प्रिय से कहना कि उसके स्मरण समाधि में मैं मोहस्थित रहती हूँ। वाम कर पर स्थित अपने कपाल को जरा भी इधर-उधर नहीं हटाती हूँ। शैया ही एकमात्र मेरा आसन है। मैं पलंग कभी नहीं छोड़ती। उस कापालिक के विरह ने मुझे कापालिनी बना दिया है। मेरे शरीर का तेज समाप्त हो गया है। अंग सूख गये हैं। बालों के लट इधर-उधर छितरे रहते हैं। मेरे मुख का रंग फीका पड़ गया है। मैं दुर्बलता के कारण चलने में डगमगाती हूँ। मेरी गति विपरीत हो गयी है। कुंकुम और स्वर्ण के समान मेरी शरीर-कांति अब साँवली पड़ गयी है। उस निशाचर के विरह में मैं निशाचरी हो गयी हूँ –

तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तहि खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ॥86॥
ल्हसिउ अंसु उद्धसिउ अंगु विलुलिय अलय,
हुय उब्बिंबिर वयण खलिय विवरीय गय।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय,
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय ॥87॥

धीरे-धीरे संदेश में विरहव्यथा की अनुभूति गहरी होती जाती है। किन्तु उसकी गति इतनी स्वाभाविक है कि पाठक को यह विचारने का अवसर ही नहीं मिलता कि वह क्रमशः विरहार्णव की अधिक गहराइयों में उतरता जा रहा है। विरहिणी की वेदना के साथ सहृदय पाठक की एकसूत्रता स्थापित हो जाती है।

ज्यों-ज्यों विरह-वर्णन का रंग प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होता जाता है और विरहजन्य पीड़ा की अनुभूति बढ़ती जाती है, नायिका पति को कापालिक, निशाचर, निर्दय जैसे विशेषणों से विभूषित करती है। इन विशेषणों को देखकर कुछ समीक्षक वियोगिनी नायिका को अनुचित विशेषणों के प्रयोग के लिए दोषी ठहराते हैं, मगर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है कि प्रिय के लिए प्रयुक्त ये विशेषण विरह के संदर्भ में उसके प्रति नायिका के अतुल प्रेम को ही प्रकट करते हैं। जिन्होंने ग्रामवधुओं को अपने पतियों से झगड़ते या उनको कोसते देखा है, उन्हें यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि साधारणतः ये निंदार्थक विशेषण जब उच्छल प्रेम रस से परिपूर्ण होकर व्यवहृत होते हैं तो उनमें कितनी मधुरिमा और भावव्यंजकता निहित रहती है। संदेश-रासक में आये हुए ये प्रयोग अद्दहमाण के लोक-परिचय और उसकी सरस अंतर्वृत्ति का परिचय देते हैं।[28]

मदन के बाणों से व्यथित वियोगिनी पथिक से विस्तारपूर्वक संदेश नहीं कह सकती। इसलिए वह संक्षेप में पथिक से कहती है – मेरी यह अवस्था कंत से कहना। (मेरे) अंग टूट गये हैं, नितांत अनरति (बेचैनी) व्याप्त है। मार्ग में आलस्यपूर्वक चलती हुई मेरी गति विह्वलांगी हो गयी है। जूड़े को बाँधकर मैं उसे कुसुमों से नहीं सजाती हूँ, जो कज्जल नयनों में धारण करती हूँ, वह कपोलों पर गलता है। प्रिय के आगमन की आशा से जो मांस शरीर पर चढ़ता है वह विरहाग्नि की ज्वाला से शीघ्र सूख जाता है। आशा के जल से संसिक्त और विरह की ऊष्मा से जलती हुई मैं न जीती हूँ न मरती हूँ, बल्कि हे पथिक ! धुकधुकाती रहती हूँ। इस बीच मन में पुनः पुनः धैर्य धारण करके और अपनी आँखें पोंछकर दीर्घाक्षी ने एक फुल्लक कहा –

सुन्नारह जिम मह हियउ पिय उक्किंखइ करेइ ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ ॥ 108॥

कहीं-कहीं कवि ने किसी विशेष भाव का चित्र रूपक के माध्यम से बड़ी सफाई के साथ खींचा है। प्रिय के प्रवास से आहता वह वियोगिनी पथिक से कहती है – मेरा हृदयरूपी रत्ननिधि (समुद्र) तुम्हारे प्रेम के गुरु मंथर से नित्य मथित हो रहा है। उसने सभी सुखरत्नों को अशेष रूप से उन्मूलित करके काढ़ लिया है –

मह हिययं रयणनिही महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं ।
उम्मूलियं असेसं सुहरयण कडिठयं च तुह पिम्मे ॥ 119॥

वह कहती है कि मदनसमीर से धौंकी हुई विरहाग्नि आँख से निकली हुई चिनगारियों से भर गयी और मेरे हृदय में स्फुरित होती हुई जल रही है। निरंतर ज्वाला से उसका धारण करना असह्य हो गया है। कोयला क्षिप्त होते रहने से यह विरहाग्नि और भी तीव्र हो उठती है और मुझे जलाती और डराती रहती है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा के कारण मेरा सरोरूह बढ़ता रहता है –

मयण समीर विहुय विरहाणलदिट्ठिफुलिंगणिब्भरो,
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो ।
अणरइछारुछित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए,
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरूह अम्ह वड्ढए ॥120॥

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संदेश-रासक में यद्यपि विरह के अंतर्गत शारीरिक दशाओं का ही वर्णन अधिक हुआ है, किन्तु कवि ने उसे इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है कि वह हृदय में बहुत दूर जाकर गहरी संवेदना को जगाता है। बाह्य व्यापारों को चित्रित करने में भी संदेश-रासक की पदावली अत्यंत प्रभावशालिनी है। कवि की भाव-प्रेरित अनुभूति-स्पंदित वाणी सीधे अंतस्थल तक पहुँचे बिना बीच में रुकना नहीं चाहती। कारण यह है कि अद्दहमाण ने सदैव स्वाभाविकता और मार्मिकता का ध्यान रखा। साधारण कवियों की भाँति वे चमत्कार के लोभ में नहीं पड़े हैं। हृदय के गहरे-से-गहरे भावों को वह साधारण ढंग से व्यक्त करने में पटु हैं।

---

1. संदेश-रासक, सं. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 143।
2. वही, पृ. 149।
3. नाट्यशास्त्र, आ. भरतमुनि, सं. बटुकनाथ उपाध्याय, अध्याय 6, कारिका-46।
4. दशरूपक, धनंजय, सं. डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 253।
5. शृंगार-प्रकाश, भोज, सं. वी. राघवन्, प्रथम प्रकाश-2।
6. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, सं. सत्यव्रत सिंह, 3.183।
7. संस्कृत और रीतिकालीन हिन्दी काव्य में शृंगार-परंपरा, डॉ. दयानंद शर्मा, पृ. 11।
8. रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, टी. नागेश भट्ट, पृ. 31-33।
9. आधुनिक हिन्दी काव्य में विरह-भावना, डॉ. मधुर मालती सिंह, पृ. 6।
10. ध्वन्यालोक, आनंदवर्धन, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 141।
11. रस-सिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण, डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित, पृ. 314।
12. काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय 13.6।
13. भिखारीदास-ग्रंथावली-रस सारांश, सं. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पद 10।
14. वही, खण्ड 2, काव्य निर्णय 4.10।
15. नाट्यशास्त्र, आ. भरतमुनि, सं. बटुकनाथ उपाध्याय, अध्याय 24।
16. वही, अध्याय 20।
17. शृंगार प्रकाश, आ. भोजराज, सं. वी. राघवन्, अध्याय 16।
18. काव्य-दर्पण, पं. रामदहिन मिश्र, पृ. 171।
19. वही

20. नाट्यशास्त्र, आ. भरतमुनि, सं. बटुकनाथ उपाध्याय, अध्याय-7.8।
21. दसरूपक, धनंजय, सं. डॉ. भोलाशंकर व्यास, 4.48।
22. रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, सं. मदनमोहन झा, पृ. 130।
23. संदेश-रासक, सं. आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 116।
24. रीतिकालीन काव्यभाषा, डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह, पृ. 313।
25. वही, पृ. सं. 314।
26. संदेश-रासक, सं. आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 115।
27. वही, पृ. 129।
28. वही, पृ. 132।

स्नातकोत्तर व्याख्याता
हिन्दी विभाग
रामनिरंजन झुनझुनवाला कॉलेज
घाटकोपर (प.), बम्बई-400086

हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के दोहों में नारी-हृदय की धड़कनें

– डॉ. वी. डी. हेगडे

•

हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे लोकमानस के साक्षात् फल हैं। अतः लोकसंपृक्ति उनका मूलद्रव्य है। उक्त कतिपय दोहों में नारी-हृदय की मधुर पीड़ा समायी हुई है। एक नारी अपनी सखी से कहती है – हे सखि ! अंगों से अंग नहीं मिला, अधर से अधर प्राप्त नहीं हुआ, प्रिय का मुख-कमल देखते-देखते यों ही सुख समाप्त हो गया –

अंगहि अंगु न मिलिउ हलि अहरे अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥[1]

प्रोषितपतिका मुग्धा नायिका के कथन में विरह की मधुर पीड़ा का सजीव चित्रण हुआ है। वह सखी से कहती है कि प्रवास करते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन दिये थे उन्हें गिनते हुए मेरी अंगुलियाँ नख से जर्जरित हो गईं। उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि प्रोषितपतिका के लिए प्रियागमन की प्रतीक्षा मधुर यातना के सदृश है। नख से जर्जरित अंगुलियाँ इसकी गवाह हैं। यथा –

जे मह्नु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥[2]

एक प्रसंग में प्रिय को अग्निसदृश माना गया है और उसके अप्रिय कार्य को भूलती हुई नायिका अपनी दूरदर्शिता दिखाती है। यथा – (नायिका की उक्ति सखी से) –

विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥[3]

– यद्यपि प्रिय विप्रियकारक है तो भी आज उसे ला। यद्यपि आग से घर जल जाता है तो भी उस आग से काज है अर्थात् उस आग से काम पड़ता ही है।

तात्पर्य यह है कि पुरुष युगों से स्वेच्छाचारी होते ही आए हैं। कहीं के कहीं रम गए। लेकिन नारी उसे कैसे छोड़ दे ? आग से घर जलता जरूर है, फिर भी उससे काम लेना कोई कैसे छोड़ दे ? यहाँ दो अंश अवलोकनीय हैं – एक तो यह कि पुरुष की बेवफ़ाई के प्रति नारी की शिकायत का इतिहास बहुत पुराना है और दूसरे इन शिकायतों में प्रेम-पीड़ित हृदय की धड़कनों की बारात सजी हुई है।

ज्यों-ज्यों श्यामा (षोडशी) अधिकाधिक लोचनों को बंकिमा सिखाती है, त्यों-त्यों मन्मथ अपने शरों को खरे पत्थर पर तीखा करता है और यह प्रसंग दोहे का लिबास पहनकर कवि-मानस से आविर्भूत होता है। यथा –

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥[4]

वायस उड़ाती हुई प्रिया ने सहसा प्रिय को देखा। देखते ही उसके आधे वलय पृथ्वी पर गिरे और आधे तड़तड़ टूट गए। जब इस सुंदर प्रसंग ने शब्दरूप धारण कर लिया तब निम्नलिखित दोहा अवतीर्ण हुआ –

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा तड त्ति ॥[5]

उक्त दोहे में प्रिया की विरह-जनित कृशता एवं तदुपरान्त प्रिय-दर्शन से उत्पन्न प्रसन्नता की ओर संकेत किया गया है। उभय भावों के फलस्वरूप उक्त प्रसंग अनूठा बन गया है। विरह-जनित कृशता के कारण कुछ चूड़ियाँ ढीली होकर गिर पड़ी हैं; लेकिन प्रिय के दर्शन की खुशी में सहसा वह इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियाँ टूट गयीं।

अपने हृदय को संबोधित करते हुए एक नारी कहती है कि हे हृदय, तड़क कर फट जा। कालक्षेप (देर) करने से क्या (लाभ) ? फिर देखूँ कि यह हतविधि (मुआ विधाता) इन सैकड़ों दुःखों को तेरे बिना कहाँ रखता है ?

प्रिय की अनुपस्थिति में नायिका ने मन ही मन नाना प्रकार के संकल्प किये हैं। इस बार उसने ऐसी क्रीड़ा करने का इरादा किया जैसी कभी नहीं की थी। उसका विचार था कि जिस तरह मिट्टी के नये बर्तन में रखते ही पानी उसके कण-कण में भिद जाता है उसी तरह मैं उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँगी –

हियड़ा फुट्टि तड त्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउं हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयांइ ॥[6]

× × ×

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु ॥[7]

– यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूँगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। पानी नये शराव (कुल्हड, पुरवा) में जैसे (प्रविष्ट हो जाता है) मैं भी सर्वांग से प्रवेश कर जाऊँगी।[8]

नायिका मन ही मन संकल्प करती है कि प्रिय आएगा, मैं रूठूँगी और मुझ रूठी हुई को वह मनाएगा; लेकिन उसकी सारी रातें ऐसे ही मनोरथों में नित्य बीत जाती हैं –

एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥[9]

आखिर प्रिय आता है तो नायिका के सारे मनोरथ ताक पर धरे रह जाते हैं –

अम्मीए सत्थावत्थेहिँ सुधि चिंतिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥[10]

– वह कहती है कि री अम्मा ! स्वस्थ अवस्थावाली सुख से मान का चिंतन करे (रूठने की बात सोचे)। प्रिय के दिखाई पड़ने पर हड़बड़ी में अपनापन कौन चेतता है ?

यहाँ मुग्धा नायिका का रूठने का संकल्प टूट गया है। मन धोखा दे गया है। वह सोचती है कि मान वह करे जिसकी अवस्था स्वस्थ हो। यहाँ तो प्रिय को देखते ही हड़बड़ी में निजत्व ही बिसर जाता है।

नायिका को प्रिय के संगम में नींद कहाँ ! प्रिय की अनुपस्थिति में भी नींद कैसी ? वह दोनों प्रकार से विनष्ट हुई है; नींद न यों न त्यों –

पिय-संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइँ विन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥[11]

रूठना नायिका को मंजूर नहीं है। वह प्रिय से कहती है कि जीवन चंचल है, मरण ध्रुव है। हे प्रिय ! रूसिए क्यों ? रूसने का (रूठने का) दिन तो सौ दिव्य (देवताओं के) वर्षों का होगा। यथा –

चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणुं पिअ रूसिज्जइ काइं ।
होसहिँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस-सयाइं ॥[12]

जो प्रवास करते हुए प्रिय के साथ नहीं गयी और न उसके वियोग में मुई (मरी) ही, तो सुहृद्जन को संदेश देती हुई लजाती है –

जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिँ सुहय-जणस्सु ॥[13]

जब प्रिय केवल जाने का आडम्बर करता है तब नायिका हसीन गुस्सा प्रकट करके कहती है –

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्बरइँ करेइ ॥[14]

– जाने दो; जाते हुए को मत रोको। देखूँ कितने पग देता है ! हृदय में तो मैं ही तिरछी होकर पड़ी हूँ, प्रिय केवल जाने का आडम्बर कर रहा है।

प्रिय का अनागमन जितना दुःखप्रद है उतना ही दुखप्रद है प्रिय का आकर तुरन्त चला जाना। प्रिय के इस व्यवहार के प्रति नायिका की शिकायत निम्नलिखित दोहे में पायी जाती है –

एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउ पइँ जेहउ खलु नाहिँ ॥[15]

– एक तो कभी भी आता नहीं, दूसरे आता है तो तुरन्त चला जाता है। हे मितऊ ! मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारे जैसा खल नहीं है।

एक नारी अपने कठोर हृदय की भर्त्सना करते हुए कहती है –

हिअडा पइँ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार ।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥[16]

– हे हृदय ! तूने मेरे आगे सैकड़ों बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फट जाऊँगा। अरे अद्‌भुत कठोर ! अरे भण्ड !

मुग्ध स्वभाववाला हृदय जो-जो देखता है, उसी पर अनुरक्त हो जाता है, नायिका उसे चेतावनी देते हुए कहती है कि उसे आगे चलकर फूटनेवाले लोहे के समान घना ताप सहना पड़ेगा। यथा –

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥[17]

जब नारी-हृदय की धड़कन विरह-पीड़ा की गहराई को छूती है तब वह निम्नवर्ती दोहे के रूप में साकार हो जाती है –

मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय-नाव झड त्ति ॥[18]

– मैंने जाना था कि प्रेम-सरोवर में मैं डूब जाऊँगी। लेकिन विरह की नाव झट से अचिन्तितरूप से आ पड़ी।

प्रिय के आगमन की बात श्रुतिमधुर होती है। वह नायिका के विरह-दग्ध हृदय में नयी जान फूँक देती है -

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥[19]

- 'प्रिय आया' यह वार्ता सुनी; ध्वनि कान में पैठी। (तब) उस विरह के नष्ट होते ही धूल भी न दीखी ।

जब कृशता के कारण वलयावली के गिरने के भय से धन्या भुजा उठाकर जाती है तब कवि-हृदय को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह वल्लभ के विरह के महासरोवर की थाह ले रही हो -

वलयावलि निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥[20]

कलहान्तरिता नायिका को पछतावा हो रहा है कि उसने संध्या-समय प्रिय से कलह कर लिया। उसका कहना है कि विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है -

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥[21]

जब गोरी बाट जोहती हुई, आँसू से कंचुक को गीला और सूखा करती हुई दीखती है तब सारा प्रसंग निम्नलिखित दोहे में अपना लावण्य दिखाता है -

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसूसासेहिं कंचुआ तिंतुव्वाण करंत ॥[22]

हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के कुछ दोहों में नारी न केवल विरहिणी के रूप में प्रकट हुई है; अपितु वीरांगना के रूप में भी दिखाई देती है। यदि विरहिणी-रूप नारी-हृदय की कोमलता का परिचायक है तो वीरांगना-रूप उसकी तेजस्विता का समुद्घाटन कर देता है। वीरांगनाओं के इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि उन्होंने अपने पतियों में उत्साह की उमंगें बराबर भरी हैं और अपना सब-कुछ लुटाकर भी अपने पतियों का वीरत्व सुरक्षित रखा है और इसी में अपना वीरत्व भी प्रकाशित किया है।

वीरांगना के दो रूप अवलोकनीय हैं - वीरमाता और वीरपत्नी। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के कतिपय दोहों में वीरपत्नी के हृदयोद्गार उच्च सुनाई देते हैं।

जो सैकड़ों लड़ाइयों में बखाना जाता है उस अति मत्त त्यक्तांकुश गजों के कुम्भस्थलों को विदीर्ण करनेवाले अपने कंत को दिखाते हुए एक वीरांगना गर्व का अनुभव करती है। यथा -

संगर-सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारंतु ॥[23]

कायरता पर दिग्विजय वीरांगना की महान् विशेषता है। उसे अपने पति की मृत्यु पर शोक के स्थान पर हर्ष अधिक होता है। वह कहती है -

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥[24]

– हे बहन ! भला हुआ मेरा कंत मारा गया। यदि भागा हुआ घर आता तो मैं सखियों में लज्जित हो जाती। आशय यह है कि युद्धवीर कांत ने अन्ततोगत्वा कायरता को ही जीत लिया है।

अपने प्रिय के हाथों में विराजमान करवाल पर वीरांगना गर्व करती है और कहती है –

भग्गउँ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥[25]

– अपनी सेना को भागते हुए और शत्रु-सेना को बढ़ते हुए देखकर मेरे प्रिय के हाथों में करवाल शशि-लेखा की तरह चमक उठती है।

एक वीरांगना का कथन है कि जहाँ शर से शर काटा जा रहा है और खड्ग छिन्न हो रहा है, वहाँ भटों की घटा के वैसे समूह में मेरा कंत मार्ग प्रकाशित करता है। यथा –

जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिँ तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥[26]

अपने कान्त के क्रोध का वर्णन वीरांगना सखी के सम्मुख करती है –

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइँ रूसइ जासु ।
अत्थिहिँ सत्थिहिँ हत्थिहिँ वि ठाउ वि फेडइ तासु ॥[27]

– हे सखी ! हमारा कांत निश्चय करके जिससे रुष्ट होता है उसके ठाँव तक को अस्त्रों, शस्त्रों और हाथों से भी तोड़-फोड़ देता है।

वीरांगना को दुखीजनों का उद्धार करनेवाला कान्त बड़ा अच्छा लगता है। उसका कथन है कि यदि बड़े घरों को पूछते हो तो बड़े घर वे रहे। किन्तु दुखीजनों का उद्धार करनेवाले मेरे कांत को इस कुटीर में देखो। यथा –

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ ॥[28]

अपने प्रिय की दानवीरता के संबंध में वीरांगना के हृदयोद्गार द्रष्टव्य हैं। यथा –

महु कंतहो वे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु ॥[29]

– मेरे कांत के दो दोष हैं। हे सखी ! झूठ मत बोल। दान देते हुए केवल मैं बची हूँ और जूझते हुए करवाल। वीरांगना के उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि उसे अपने दानवीर एवं युद्धवीर कांत पर बड़ा गर्व है। वाग्विदग्धतापूर्वक यह भाव प्रकट हुआ है।

यदि अन्य कालों में युद्ध क्षत्रियों का 'काम्य कर्म' था तो अपभ्रंश-युग में युद्ध ही क्षत्रियों का 'नित्यकर्म' बन गया था। लोकैषणा को सर्वोच्च माना गया था। 'का चिन्ता मरणे रणे' ऐसी

वीर मनोभूमि का निर्माण हो गया था। रण और मरण को समान मानकर वीरांगना पलायन की अपेक्षा मरण के वरण पर बल देती है। यथा –

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मरिअडेण ॥[30]

– हे सखी ! यदि शत्रु भागे हैं तो मेरे प्रिय (के डर) से और यदि हमारे लोग भागे हैं तो उसके (प्रिय के) मारे जाने से। वीरांगना के उपर्युक्त हृदयोद्‌गार में यह विश्वास कूट-कूटकर भरा हुआ है कि उसका वीर पति लड़ना और मरना ही जानता है। उसने भागना नहीं सीखा है। प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल-तिल करके कट जाना परन्तु मुँह न मोड़ना उक्त वीरांगना के युद्धवीर कांत का अमर संदेश है।

वीर पति में शत्रु-सेना के हाथियों का कुम्भस्थल विदीर्ण करने की क्षमता उत्पन्न करनेवाली युद्धवीरांगना का कथन है कि हे प्रिय, जहाँ खड्‌ग का व्यवसाय मिले हम उसी देश में चलें। रण-दुर्भिक्ष में हम क्षीण हो गए हैं। बिना युद्ध के नहीं संभलेंगे। यथा –

खग्ग विसाहिउ जहि लहहुं पिय तहिँ देसहिँ जाहुं ।
रण दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न बलाहुं ॥[31]

रुधिर-धारा बहाकर जलते हुए झोंपड़ों को बुझा देने की, अपने कांत की क्षमता पर वीरांगना को अटल विश्वास है। इस संबंध में उसके हृदयोद्‌गार द्रष्टव्य हैं। यथा –

महु कन्तहो गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥[32]

– मेरे कंत के गोठ में रहते हुए झोंपड़े कैसे जलते हैं ? या तो वह रिपु के रुधिर से बुझा देता है या अपने रुधिर से। इसमें भ्रान्ति नहीं है।

कबन्ध-युद्ध वीरों के रणोत्साह का चरमोत्कर्ष है। सिर के कटने के उपरान्त भी धड़ का युद्ध करते रहना कबन्ध-युद्ध कहलाता है। हिन्दी साहित्य के आदि-महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' में कबन्ध-युद्ध का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। वहाँ वर्णित है कि नरसिंह दाहिम का सिर कट गया परन्तु उसके धड़ ने बढ़कर युद्ध किया।

आल्हन कुमार के कबन्ध का कार्य भी सराहनीय है। महामाया का स्मरण और जाप करके उस वीर ने अपने हाथ से अपना सिर काटा। फिर पृथ्वीराज के सामने उसे छोड़कर उसका धड़ बायें हाथ में कटार लेकर युद्ध के लिए अग्रसर हुआ और पंग-दल को अपनी मार-काट से विचलित कर डाला।[33] ऐसा प्रतीत होता है कि राहु के अमर कबन्ध की अपने शत्रु (सूर्य और चन्द्र) के प्रति प्रतिक्रिया ने शनैः शनैः साहित्य में नर-कबन्धों द्वारा युद्ध करने की परंपरा डालने की प्रेरणा दी थी। साहित्यिक वर्णनों में अतिशयोक्ति की अभिव्यंजना तो स्पष्ट है, परन्तु रण की विषम मारकाट के बीच में परम उत्साही उद्‌भट वीरों के सिर कटने पर उनके कबन्ध अपने

जीवित प्रतिपक्षी पर रक्त की क्षिप्रता और पूर्व जोश आदि के कारण कुछ समय तक प्रहार करते रहते हैं।[34]

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चंदबरदाई को कबन्ध-युद्ध-वर्णन की परम्परा अपभ्रंश से प्राप्त हुई है। इस संबंध में हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश का एक दोहा द्रष्टव्य है –

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कन्तस्सु ॥[35]

अपने कांत के कबन्ध-युद्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा करके वीरांगना कहती है कि पाँव में अंतड़ियाँ लगी हैं, सिर कन्धे से लटक गया है तो भी हाथ कटारी पर है। कांत की मैं बलि जाऊँ।

उक्त कथन में क्षत्राणी का वीर हृदयोद्गार समाया हुआ है। अन्ततोगत्वा हैम व्याकरण के नारी-हृदय-संबंधी उक्त दोहों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे दोहे समाविष्ट किये जा सकते हैं जो नारी-हृदय के मधुर पक्ष का उद्घाटन करते हैं। दूसरे भाग में नारी-हृदय के परुष एवं वीर पक्ष से संबंध रखनेवाले दोहे आते हैं। डॉ. नामवरसिंह के शब्दों में – "प्रणयी जीवन के इन दोहों में वह सादगी, सरलता और ताज़गी है जो हिन्दी के समूचे रीति-काव्य में भी मुश्किल से मिलेगी। कला वहाँ जरूर है, चातुरी वहाँ खूब है। एक-एक शब्द में अधिक से अधिक चमत्कृत करने की शक्ति भी हो सकती है, मतलब यह कि वहाँ गागर में सागर भरने की करामात हो सकती है लेकिन गागर में जितना ही अमृत भरने की जो चेष्टा यहाँ है उस पर रीझनेवाले सुजान भी कम नहीं हैं। कठिन काम गागर में सागर भरना हो सकता है लेकिन गागर में अपना हृदय भर देना कहीं अधिक कठिन है। हैम व्याकरण के इन दोहों की गागर ऐसी ही है। आर्या और गाहा सतसई की तरह इस दोहावली के भी एक-एक दोहे पर दर्जनों प्रबंध-काव्य निछावर किये जा सकते हैं।"[36] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हैम व्याकरण के श्रृंगार और शौर्य-संबंधी दोहों में नारी-हृदय की धड़कनें अपने पूर्ण लावण्य के साथ काव्य-रूप ग्रहण किये हुए हैं। सामाजिक क्लीबता के निवारण के लिए उक्त दोहों का पुनः पुनः पठन नितान्त आवश्यक है। उक्त दोहों में न केवल रसराज श्रृंगार का विश्वमोहक रूप प्रकट हुआ है, अपितु रसराजराज वीर का विश्वपोषक रूप प्रदर्शित हुआ है। वीरांगनाओं के उक्त मधुर एवं वीर हृदयोद्गारों ने न केवल अपने वीर पतियों में शत्रु-सेना के हाथियों का कुम्भस्थल विदीर्ण करने की क्षमता उत्पन्न की है, अपितु कायरता पर दिग्विजय प्राप्त करके क्लीबता के खण्डन के इतिहास में एक सुंदर अध्याय जोड़ दिया है।

---

1. प्राकृत व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्र, सूत्र संख्या 332 में उद्धृत, पृ. 591 ।
   [Siddha-Hema-Sabdānuśāsana, Hemachandra, Eighth Adhyaya, Bhanderkar Oriental Research Institute, Poona, 1980, Revised by P.L. Vaidya]
2. वही, सूत्र 333 में उद्धृत ।

3. वही, सूत्र 343 में उद्धृत, पृ. 593 ।
4. वही, सूत्र 344 में उद्धृत, पृ. 594 ।
5. वही, सूत्र 352 में उद्धृत, पृ. 596 ।
6. वही, सूत्र 357 में उद्धृत, पृ. 597 ।
7. वही, सूत्र 396 में उद्धृत, पृ. 608 ।
8. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 312, डॉ. नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम, परिवर्धित संस्करण 1971 ।
9. हेमचन्द्राचार्यविरचितं प्राकृतव्याकरणम् सूत्र 414 में उद्धृत, पृ. 613 ।
10. वही, सूत्र 396 में उद्धृत, पृ. 608 ।
11. वही, सूत्र 418 में उद्धृत, पृ. 614 ।
12. वही, पृ. 615 ।
13. वही, सूत्र 419 में उद्धृत, पृ. 616 ।
14. वही ।
15. वही, सूत्र 422 में उद्धृत, पृ. 617 ।
16. वही, पृ. 618 ।
17. वही, पृ. 619 ।
18. वही ।
19. वही, सूत्र 432 में उद्धृत, पृ. 623 ।
20. वही, सूत्र 444 में उद्धृत, पृ. 626 ।
21. वही, सूत्र 424 में उद्धृत, पृ. 620 ।
22. वही, सूत्र 431 में उद्धृत, पृ. 622 ।
23. वही, सूत्र 345 में उद्धृत, पृ. 594 ।
24. वही, सूत्र 351 में उद्धृत, पृ. 595 ।
25. वही, सूत्र 356 में उद्धृत, पृ. 596 ।
26. वही, सूत्र 357 में उद्धृत, पृ. 597 ।
27. वही ।
28. वही, सूत्र 364 में उद्धृत, पृ. 598 ।
29. वही, सूत्र 379 में उद्धृत, पृ. 603 ।
30. वही ।
31. वही, सूत्र 386 में उद्धृत, पृ. 605 ।

32. वही, सूत्र 416 में उद्धृत, पृ. 614 ।
33. चंदबरदाई और उनका काव्य, पृ. 113 ।
बिपिनबिहारी त्रिवेदी, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद 1942 ।
34. वही, पृ. 113-114 ।
35. हेमचन्द्राचार्य विरचितं प्राकृत-व्याकरणम्, सूत्र 445 में उद्धृत, पृ. 627 ।
36. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 234 ।

व्याख्याता
हिन्दी विभाग
मानसगंगोत्री
मैसूर विश्वविद्यालय
मैसूर-570006

करकण्डुचरिउ में अणुपेक्खा : प्रयोजन दृष्टि

– डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'

•

जीवन के अव्यक्त रहस्य की भावना व्यक्त करना काव्य का मुख्य उद्देश्य होता है। इस कारण किसी भी जाति और देश का एक युग विशेष में लिखा गया काव्य भी सर्वयुगीन होता है।[1]

काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजनों का निर्देश किया है – (1) यश-प्राप्ति, (2) अर्थप्राप्ति, (3) व्यवहार-ज्ञान, (4) अमंगल-निवारण, (5) सद्यः आनन्द-प्राप्ति और (6) प्रिया के समान मधुर शैली में उपदेश देने की सामर्थ्य –

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोददेश पुजे ।।[2]

साहित्य दर्पणकार ने काव्य-प्रयोजनों को निम्न रूप में निरूपित किया है –

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।[3]

उपर्युक्त कथ्यों पर विचार करने से एक तथ्य प्राप्त होता है कि सद्काव्य चतुर्वर्ग का साधक है तथा सद्यः आनन्द या प्रीति उत्पन्न करना उसका विशिष्ट प्रयोजन है। भारतीय परम्परा अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को अपना लक्ष्य मानती है और काव्य भी इसी पुरुषार्थ को पुष्ट करता है। आनन्द के पूर्ण प्रस्फुटन का नाम मोक्ष है और सद्काव्य इसी अतीन्द्रिय आनन्द की सद्यः प्रतीति कराता है। अतः सद्काव्य से बढ़कर शिवत्व या मोक्ष का साधक अन्य कोई साधन नहीं हो सकता।[4]

मुनि कनकामर विरचित करकण्डुचरिउ महाकाव्य का प्रधान प्रयोजन 'मोक्ष' पुरुषार्थ की सिद्धि करना, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति कराना रहा है। इस आनन्द की अनुभूति शान्त रस से ही हो सकती है। अतः कवि ने तत्त्वज्ञान, वैराग्य, हृदय-शुद्धि आदि विभावों; यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान आदि अनुभावों एवं निर्वेद, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारी भावों का वर्णन अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से किया है और सहृदय का 'शम' स्थायी भाव उद्बुद्ध कर शान्तरस की अनुभूति करायी है।

कवि ने करकण्डुचरिउ में करकण्डु के वैराग्य प्रसंग में अनुप्रेक्षा का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ पर अनुप्रेक्षा के विषय में विचार किया जा रहा है।

अधिगतार्थस्य मनसाध्यासोऽनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन, बारम्बार चिन्तन। किसी विषय की गहराई में जाने के लिए उसके स्वरूप का बार-बार विचार करना ही अनुप्रेक्षा है। पं. दौलतरामजी ने अनुप्रेक्षा को वैराग्य उत्पन्न करनेवाली जननी कहा है –

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भवभोगनतें वैरागी ।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तें अनुप्रेक्षा भाई ॥[5]

उनका कथन है कि जैसे पवन लगने से अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही अनुप्रेक्षा के चिन्तन से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है। जब यह जीव आत्मस्वरूप को पहचानकर उसी में लीन हो जाता है तब मोक्ष प्राप्त करता है।

शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में अनुप्रेक्षा का महत्त्व निम्न शब्दों में प्रतिपादित किया है –

विध्याति कषायाग्नि विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥[6]

अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास से जीवों की कषायाग्नि शान्त हो जाती है, राग गल जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक विकसित हो जाता है।

वैराग्योत्पादक तत्त्वचिन्तन अनुप्रेक्षा है। इसे भावना भी कहा जाता है।

वैराग्यवर्धक बारह भावनाएं मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएं व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य और सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, विषय-कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती हैं। जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में संलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं, जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।[7]

अनुप्रेक्षा बारह हैं – अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म। इनमें आरम्भ की छह भावनाएं वैराग्योत्पादक और अन्तिम

छह तत्वपरक हैं। प्रत्येक के क्रम में भी एक विकास दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर मात्र आरम्भ की छह वैराग्योत्पादक भावनाओं के प्रयोजन विचारणीय हैं।

जब नारी के हृदयविदारक विलाप का कारण राजा करकण्डु को ज्ञात होता है तब उनका वैराग्य भाव जागरित हो जाता है। वे संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता का चिन्तन करते हैं –

धी धी असुहावउ मच्चलोउ, दुहकारणु मणुवहँ अंगभोउ ।
रयणायरतुल्लउ जेत्थु दुक्खु, महुबिंदुसमाणउ भोयसुक्खु ॥ 9.4.7-8

– धिक्-धिक् यह मर्त्यलोक असुहावना है। शरीर का भोग ही मानव के दुःख का कारण है। जहाँ समुद्र के तुल्य महान् दुःख हैं और भोगों का सुख मधुबिन्दु के समान (अत्यल्प) है।

दइवेण विणिम्मिउ देहु जंपि, लायण्णउ मणुवहँ थिरु ण तं पि ।
णवजोव्वाणु मणहरु जं चडेइ, देवहिँ वि ण जाणिउ कहिँ पडेइ ।
जे अवर सरीरहिँ गुण वसंति, ण वि जाणहुँ केण पहेण जंति ।
ते कायहो जइ गुण अचल होंति, संसारहँ विरइ ण मुणि करंति ।
करिकण्ण जेम थिर कहिँ ण थाइ, पेक्खंतहँ सिरि णिण्णासु जाइ ।
जह सूयउ करयति थिउ गलेइ, तह णारि विरत्ती खणि चलेइ ॥ 9.6.1-6

– दैव के द्वारा जिस देह का निर्माण किया गया है मानव का वह लावण्य भी स्थिर नहीं है। मानव जिस मनोहर नवयौवन पर चढ़ता है, वह भी देवों के द्वारा न जाने कहाँ पटक दिया जाता है। शरीर में जो-जो अन्य गुण निवास करते हैं वे सभी न जाने किस मार्ग से निकल जाते हैं। यदि काय के वे गुण अचल होते तो मुनि संसार से विरक्ति नहीं करते। गजकर्ण के समान लक्ष्मी स्थिर नहीं ठहरती, देखते ही देखते विनष्ट हो जाती है। जिस प्रकार पारा हथेली पर रखते ही गल जाता है उसी प्रकार नारी विरक्त होकर एक क्षण में चली जाती है।

कवि ने अनित्य भावना में संयोगों की अनित्यता, क्षणभंगुरता को स्पष्ट किया है। इसका प्रयोजन आत्महित में उद्यत मानव की अज्ञानजन्य आकुलता को नष्ट करना और राग-द्वेषजन्य आकुलता क्षीणकर उसे समताभाव में स्थित करना है। यह भावना हमें वस्तु के परिणमन स्वभाव को सहज से स्वीकारने, संयोगों की क्षणभंगुरता का आपत्ति के रूप में नहीं – सम्पत्ति के रूप में प्रसन्नचित्त से स्वागत करने, संयोगों-वियोगों में समताभाव रखने एवं संयोगों को मिलाने-हटाने के निरर्थक विकल्पों से यथासंभव विरत रहने हेतु प्रेरित करती है। इसका लक्ष्य निज दृष्टि को परिणमनशील संयोगों और पर्यायों से हटाकर आत्म-स्वभाव की ओर ले जाना है।

अनित्य भावना में संयोगों की क्षणभंगुरता का बोध कराया गया है फिर भी अज्ञानी को अज्ञानवश और ज्ञानी को रागवश शरीर जैसे संयोगी पदार्थ को स्थिर रखने/सुरक्षा करने सम्बन्धी विकल्प-तरंगें उठती रहती हैं और चित्त को आकुल-व्याकुल करती हैं। इन विकल्पों का शमन करना ही अशरण भावना का उद्देश्य है –

रयणीए परिसमणु, संगामे सुरदमणु।
आवइएँ पत्ताइँ, हिययम्मि सुत्ताइँ।
तहो किं पि णउ फुरइ, उट्ठेइ वइसरइ।
अह विवरॅं पइसरउ, सुरलोउ अणुसरउ।
सुरगिरिहिँ आरूहउ, पंजरहिँ तणु छुहउ।
बंधवहिँ मित्तेहिँ, करधरियकुंतेहिँ।
पुत्तेहिँ सुत्थियउ मंतेहिँ रक्खियउ।
भडणियरपरियरिउ, णउ तेहिँ पुणु धरिउ।
बलएउ चक्कहरु, सुरणाहु णहे खयरु।
जमु वरुणु थरधरणु, ण वि होइ कु वि सरणु। 9.7.1-10

– (जीव) रात्रि में विश्राम करता है, संग्राम में देवों का दमन करता है, किन्तु जब आपत्ति पड़ती है तब हृदय सो जाता है। उसकी कोई चेष्टा नहीं रहती है। वह न उठता है, न बैठता है। चाहे गुफा में छिपो, सुरलोक का अनुसरण करो। सुरगिरि पर चढ़ो या पिंजरे में (अपने) शरीर को डाल रखो। चाहे बन्धु और मित्र हाथ में भाला लिये खड़े रहें, पुत्र बचाते रहें और मन्त्र रक्षा करते रहें या योद्धाओं का समूह घेरे रहे किन्तु ये सब मृत्यु से नहीं बचा सकते। बलदेव, चक्रधारी नारायण, सुरेन्द्र, आकाशगामी खेचर, यम, वरुण, शेषनाग कोई भी शरण नहीं होता है।

यहाँ पर कवि ने अनेक युक्तियों द्वारा संयोगों और पर्यायों की अशरणता/असुरक्षा को स्पष्ट किया है। 'अशरण' अहस्तक्षेप का सूचक है। किसी भी द्रव्य के परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं चलता। कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वस्तु की इस स्वभावगत विशेषता का चित्रण एवं पर्यायों के स्वतंत्र परिणमन का चिन्तन ही अशरण भावना का मूल है। इस भावना का केन्द्र बिन्दु है – 'मरते न बचावे कोई'। मृत्यु की अनिवार्यता और अशरणता के मर्मभेदी सत्य का द्योतनकर मानव की बचाने की संशयात्मक वृत्ति और रागात्मक वृत्ति को जड़मूल से नष्ट करना ही अशरण भावना का मुख्य प्रयोजन है।

यद्यपि अनित्य और अशरण भावना में वस्तु का सम्यक्स्वरूप स्पष्ट हो जाता है तथापि रागवश मानव को यह भ्रम हो सकता है कि संयोग भले ही अस्थायी हैं पर जब तक हैं तब तक तो इनसे सुख मिलेगा ही मिलेगा। इस भ्रम का निवारण संसार भावना में किया गया है –

संसारॅं भमंतहँ कवणु सोक्खु, असुहावउ पावइ विविहदुक्खु।
णरयालइँ णाणाणारएहिँ, चिरकियहिँ णिहम्मइ वइरएहिँ।
हियएँ ण वि चिंतहुँ सक्कियाइँ, तहिँ भुत्तइँ पवरइँ दुक्कियाइँ।
अवरुप्परु जाइविरुद्धएहिँ, तिरियाण मज्झे उप्पण्णएहिँ।
मुहबंधणछेयणताडणाइँ, पावियइँ तेहिँ तणुफाडणाइँ।
मणुयत्तणे माणउ परिमलंतु, परिझिज्जइ णियमणे सलवलंतु।
सुरलोएँ पवण्णउ णट्ठबुद्धि, मणि झिज्जइ देक्खिवि परहोरिद्धि।
णडणारि जेम रूवइँ करेइ, तिम जीउ कलेवर सइँ धरेइ। 9.8.1-8

– संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को कौनसा सुख होता है ? वह अनेक प्रकार के असुहावने दुःखों को ही पाता है। नरक लोक में वह पूर्व जन्म के वैरी अनेक नारकियों द्वारा मारा जाता है। वहाँ पर ऐसे बड़े-बड़े दुःखों को भोगता है जो हृदय से सोचे भी नहीं जा सकते। परस्पर जाति-विरोधी तिर्यंचों के बीच उत्पन्न होकर उनके द्वारा मुख-बन्धन, छेदन, ताड़न, अंग-फाड़न दुःखों को प्राप्त करता है। मनुष्यभव में मान धारण करता हुआ अपने मन में सलबलाता और परिक्षीण होता रहता है। सुरलोक में पहुँच कर वह नष्ट-बुद्धि जीव दूसरों की ऋद्धि देखकर मन में खीझता रहता है। जिस प्रकार नट नारी नाना रूप धारण करती है उसी प्रकार यह जीव नाना कलेवर धारण करता है।

संसार भावना में चारों गति के दुःखों का निरूपण, संसार की असारता और संयोगों की निरर्थकता से अवगत कराया गया है।

अनित्यादि पूर्वोक्त भावनाओं में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता एवं निरर्थकता को स्पष्ट किया गया है फिर भी सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार सुख-दुःख एक साथ मिल-जुलकर भोग लेने का विकल्प उठा ही करता है। इस विकल्प को जड़ से नष्ट करने के लिए ही एकत्व और अन्यत्व भावना का चिन्तन किया जाता है। जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि सभी स्थितियाँ जीव को अकेले ही भोगनी पड़ती हैं। इस तथ्य का चिन्तन-मनन एकत्व भावना में किया जाता है –

जीवहों सुसहाउ ण अत्थि को वि, णरयम्मि पडंतउ धरइ जो वि ।
सुहिसज्जणणंदणइट्ठभाय, णवि जीवहो जंतहो ए सहाय ।
णिय जणणि जणणु रोवंतयाइँ, जीवे सहुँ ताइँ ण पउ गयाइँ ।
धणु ण चलइ गेहहो एक्कु पाउ, एक्कल्लउ भुंजइ धम्मु पाउ ।
तणु जलणि जलंतइ परिवडेइ, एक्कल्लउ वइवसघरि चडेइ ।
जहिँ णयणणिमेसु ण सुहु हवेइ, एक्कल्लउ तहिँ दुहु अणुहवेइ ।
अहिणउलसीहवणयरहँ मज्झे, उप्पज्जइ एक्कु वि जिउ असज्झे ।
सुरखेयरकिंणरसुहयगाम, तहिँ भुंजइ एक्कु वि जियइ जाम । 9.9.1-8

– जीव का ऐसा कोई भी सुसहायक नहीं है जो उसे नरक में गिरने से बचा ले। सुहृद्, स्वजन, पुत्र, इष्ट, भ्राता ये जाते हुए जीव के सहायक नहीं होते। अपनी जननी-जनक रोते हुए भी जीव के साथ एक कदम नहीं जाते। धन एक पैर भी घर के बाहर साथ नहीं चलता। जीव अकेला ही धर्म या पाप के फल को भोगता है। शरीर जलती हुई अग्नि में गिरकर भस्म हो जाता है। जीव अकेला ही यम के घर को चढ़ता है। वहाँ नयन-निमेष भाग (पलभर) भी सुख नहीं होता। जीव अकेला ही दुःख का अनुभव करता है। असाध्य (दुःखपूर्ण) अहि, नकुल, सिंह आदि वनचरों के बीच जीव अकेला ही उत्पन्न होता है। सुर-खेचर-किन्नरों के सुन्दर ग्राम में जीव अकेला ही जब तक जीता है, भोग भोगता है।

उक्त छन्द में कवि ने एकत्व भावना द्वारा संसार से उदासीनता और वीतरागभाव जागृत करने का सफल प्रयास किया है। पूज्यपाद स्वामी ने भी सर्वार्थसिद्धि में एकत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन और फल बतलाते हुए लिखा है –

एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यानुबन्धो न भवति परजनेषु च द्वेषानुबन्धी नोपजायते । ततो निसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते ।[8]

इस प्रकार चिन्तवन करते हुए जीव के स्वजनों में प्रीति का और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता। इसलिए निसंगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।

एकत्व भावना का प्रयोजन यही है कि मनुज पर का साथ खोजने के विकल्प से विरत हो और आत्मस्वरूप को पहचानकर उसी में लीन रहे।

एकत्व भावना के कथ्य को ही अन्यत्व भावना में नास्ति से स्पष्ट किया गया है –

परिपोसिउ उसहंसएहिँ जं पि, भिण्णउ सरीरु जीवाउ तं पि ।
लोयणइँ सुतारइँ दीहराइँ, जीवहो परिभिण्णइँ सुहयराइँ ।
जीहा तरूपल्लवसण्णिहा वि, जीवहो दूरेण वि सा थिया वि ।
तणुफंसगंधकण्णहं समिध्दि, जीवहो अइभिण्णी रूवरिद्धि ।
जे अवर वि गुण कायहो मिलंति, ते जीवहो भिण्णा संचलंति ।
जे कायहो थूला बहुय के वि, अइसुहुमा जीवहो दूरे ते वि ।
कोहाइचउक्कु वि पुण्णपाव, ते जीवहो भिण्णा कम्मभाव । 9.10.2-7

– जो सैकड़ों औषधियों से परिपोषित किया जाता है वह शरीर भी जीव से भिन्न है। बड़े-बड़े दीर्घ सुखकारी लोचन भी जीव से भिन्न हैं। वृक्ष के पल्लव समान यह चंचल जिह्वा भी जीव से दूर ही स्थित है। शरीर के स्पर्श, गन्ध व कानों के गुण तथा रूप-रिद्धि जीव से अति भिन्न है। अन्य जो भी गुण काया में आ मिलते हैं वे सब जीव से भिन्न होकर चले जाते हैं। काय के बहुत से स्थूल-सूक्ष्म आदि गुण हैं, वे भी जीव से दूर ही हैं। क्रोधादि चारों कषाएं और पुण्य-पाप ये सब कर्मभाव जीव से भिन्न हैं।

यहाँ अन्यत्व भावना का मूल प्रयोजन है – विभिन्न संयोगों के मेले में खोये निज शुद्धात्म तत्त्व को खोजना, पहचानना, पाना, उसे सबसे भिन्न-निराला जानना, उसका ही सदा चिन्तन करना, उसकी ही भावना मानना, उसी का ध्यान करना, उसी में जमना, रमना, उसी में लीन हो जाना, विलीन हो जाना तथा उसी में सम्पूर्णतः समा जाना।[9]

शरीर सम्बन्धी रागात्मक विकल्पों के शमन के लिए देह विषयक अशुचिता का चिन्तन अशुचि भावना है। करकण्डु के अशुचि भावना सम्बन्धी विचार इस प्रकार हैं –

एहु देहहो भणु गुणु को विहाइ, कउ मंडणु असुइ सहावें जाइ ।
जे णयण तरल विब्भमगया वि, ते दूसाणिवहहिँ दूसिया वि ।
भणु णासारंधहो का विसुद्धि, जहिँ गलइ सिंभु पयडउ असुद्धि ।
गुणअमिउ अहरे जणु किं कलेइ, जहिँ लालासारणि परिघुलेइ ।

गुणुदीसइ कवणु उरोरुहाहँ, परिपूरिय पूयएँ वणणिहाहँ।
घणमंसपवड्ढिय पिंडयाहँ, को करइ रई तहँ दूसियाहँ।
कडिमंडलु भणियउ किं बुहेहिँ, परिसवइ असुद्धउ बिहिँ मुहेहिँ।
वसरुहिरमंसहड्डाइं जेत्थु, भणु सुद्धिहे कारणु कवणु तेत्थु।
जइ भिंतरु बाहिरु विहि करंतु भणु जणवउ को तहिं रइ सरंतु। 9.11.1-9

– इस देह में कहो कौनसा गुण दिखाई देता है ? जो स्वभाव से अशुचि है उसका क्या मण्डन ? जो तरल और विभ्रमपूर्ण नेत्र हैं वे दूषण-समूह से दूषित हैं। बताओ नासिका रन्ध्र में क्या विशुद्धि है ? जहाँ स्पष्ट ही अशुद्ध श्लेष्मा बहता रहता है। अधर में लोग क्यों अमृत गुण की कल्पना करते हैं जबकि वहाँ पर लार का प्रवाह घूमता रहता है। स्तनों में कौनसा गुण दिखाई देता है ? जबकि वे पीव से भरे हुए फोड़ों-सदृश हैं। सघन मांस के बढ़े हुए दूषित पिण्डों से कौन रति करे ? बुद्धिमानों (कवियों) ने कटि मण्डल का क्यों वर्णन किया जबकि वहाँ दो-दो गुह्य मुखों से अशुद्ध मल बहता है। जिस शरीर में वसा, रुधिर, मांस और हड्डियाँ हैं वहाँ कहो शुद्धि का कौनसा कारण है ? यदि भीतरी व बाहरी विधि (शुद्धि) का विचार करें तो कौन मनुष्य शरीर के साथ रति करेगा ?

अशुचि भावना का प्रयोजन है शरीरादि संयोगों की अशुचिता और निजस्वभाव की शुचिता को समझकर संयोगों से विरत हो निजस्वभाव में रत होकर अनन्त सुखी हों।[10]

संसारी प्राणी के स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, जमीन, जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का संयोग है। इन संयोगों की अनित्यता को अनित्यभावना में, अशरणता को अशरण भावना में, दुःखरूपता को संसार भावना में अभिव्यक्त किया गया है। एकत्व भावना में स्वयं का एकत्व, अन्यत्व भावना में संयोगों से भिन्नत्व और अशुचि भावना में शरीर (संयोगों) की मलिनता (विभावादि) का चित्रणकर कवि ने सहृदय का 'शम' नामक स्थायी भाव उदबुद्ध कर शान्तरस की अनुभूति करायी है। साथ ही वैराग्योत्पादक सन्देश दिया है। यह सन्देश पाठक/श्रोता की भावभूमि को सरल एवं तरल बनाकर उसे जोतने और सिंचित करने का कार्य करता है। संसार, शरीर एवं भोगों से वैराग्यभाव जागरित करता है। संयोगों के प्रति अनादिकालीन संयोगाधीन दृष्टि को समाप्तकर अन्तरोन्मुख होने की प्रेरणा देता है। अन्तरोन्मुख होने पर ही सुख-शान्ति मिलती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि ने करकण्डुचरिउ में अनुप्रेक्षा का वर्णन कर आत्मार्थी को मानसिक दैनिक भोजन प्रदान किया है और संसार, शरीर व भोगों में लिप्त जगत को अनन्त सुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

---

1. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 372, डॉ. भागीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, वि. सं. 2005 ।
2. काव्यप्रकाश, 1.2, आचार्य मम्मट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960 ।
3. साहित्य दर्पण, 1.2, विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, वि. सं. 2020 ।

4. संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक, पृ. 304, डॉ. (श्रीमती) आशालता मलैया, जयश्री आइल मिल, दुर्ग, मई 1989 ।
5. छहढाला 5.1-2, पं. दौलतरामजी, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर नि. सं. 2505 ।
6. ज्ञानार्णव, भावना अधिकार, 192, आचार्य शुभचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर (महा.), वीर नि. सं. 2503 ।
7. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृ. 8, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015 ।
8. सर्वार्थसिद्धि, 9.7 की टीका, आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971 ।
9. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृ. 79 ।
10. वही, पृष्ठ 95 ।

मील रोड
गंजबासौदा, विदिशा (म.प्र.)

अपभ्रंश भाषा से जनभाषा की विकास-प्रवृत्तियाँ

– श्रीमती अपर्णा चतुर्वेदी प्रीता

•

'शब्द' भाषा, उसकी गति एवं उसके विकास की शक्ति है। एक विशेष समुदाय की पहचान भौगोलिक क्षेत्र में बोली जानेवाली भाषा से होती आ रही है, क्योंकि 'शब्द' अर्थवान् सामंजस्य के साथ-साथ मनुष्य को आपसी व्यवहार और संवेदना भाव से जोड़ते हैं। सही मायनों में हम देखें तो शब्द अर्थवत्ता के सूक्ष्म केन्द्र में स्थापित हो समाज में, साहित्यकारों में एवं कवियों में समयानुकूल संस्कारों को उभारते हैं जिनमें दूरगामी प्रभावों के साथ-साथ परंपरात्मक-शैली, कथ्य, भावभूमि, जनोपयोगी मीमांसा का स्वरूप भी निहित होता है। अपभ्रंश भाषा की महत्ता भारतीय भाषाओं के विकास की दृष्टि से इसीलिए महत्त्वपूर्ण है और रहेगी, क्योंकि अपभ्रंश भाषा का संगठित स्वरूप हमें 10वीं शताब्दी से भी कई साल पहले का मिलता है।

संयुक्त-परिवारों की, भारतीय समाज में कुटुम्ब की, समुदाय की, परिकल्पना के साथ-साथ अपभ्रंश भाषा के परिनिष्ठित-स्वरूप को लोक भाषा एवं अपनी भाषा मानकर ग्रहण करना आरंभ कर दिया गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने 'हिन्दी साहित्य' कृति में विशेषरूप से लिखा है – ''दसवीं शताब्दी की भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखायी देता है। स्वयं महाराज भोज ने अपभ्रंश से मिलती-जुलती हुई प्राकृत भाषा की कविता लिखी थी और उसे बड़े आदर के साथ अपनी

भोजशाला में खुदवा के जड़ा था। यह भोजशाला आजकल धार की कमाल मौला की मस्जिद के नाम से मशहूर है।''[1]

अपभ्रंश भाषा घुमक्कड़ों-आभीरों की भाषा के रूप में भी मानी गई। यह ''अनुमानतः ई. सन् 181 के क्षत्रप रुद्रसिंह के एक लेख से पता चलता है। उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूति आभीर थे।''[2]

वस्तुतः भाषा का प्रचलन सदैव सम्पर्क व जनमानस की ग्रहण-शक्ति से भी प्रभावित होता रहा है। आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने ये स्पष्ट तथ्य दिये हैं कि छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।

यह विचारणीय संदर्भ भी है कि जिस समय आभीरों की भाषा में (अपभ्रंश में) छप्पय, दोहा, सोरठा का स्वरूप साहित्यकारों ने कालबद्ध (10वीं से 14वीं शताब्दी तक) किया तब ही अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा बनी तथा व्याकरण और बोलचाल के मिश्रण से लोकभाषा के रूप में प्रसार पाने लगी। यही पक्ष हमें इस दिशा की ओर भी आकर्षित करता है कि अपभ्रंश भाषा और लोकभाषा के मध्य तत्सम शब्दों का बाहुल्य आज भी देखने को मिलता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की प्रसिद्ध कृति 'हिन्दी साहित्य' में अपभ्रंश भाषा ईसा की प्रथम शती की मानी गई है। आभीरों की प्रवृत्ति घुमक्कड़ रही जो स्थान-स्थान पर आखेट करते थे। विशेष प्रकार का स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गयी, पर थी आर्य भाषा।[3]

अपभ्रंश भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य देखकर मुझे लगता है कि दरबारी-राजाश्रय प्राप्त कवियों ने राजा की प्रशंसा हेतु जन साधारण में अपने ग्रंथों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से यह स्वतंत्रता ले ली थी, जैसे पुष्पदन्त (राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराज के आश्रित) की कृति में यह प्रवृत्ति है।

जयपुर में (पूरे राजस्थान में फैले) कठपुतली-कला से जुड़े परिवारों की भाषा, बोली तथा लुहारू जाति की बोली का उच्चारण अथवा भौगोलिक क्षेत्रीय परम्परा के स्वरूप को देखकर भी यह लगता है कि आज भी जन बोलियों में अपभ्रंश-भाषा जीवित है। भले ही उसका स्वरूप साहित्य के पक्ष से भिन्न हो गया हो।

'कब तक पुकारूं' उपन्यास में रांगेय राघवजी ने एक परम्परात्मक संस्कृति का उल्लेख किया है जो आभीरी-परंपरा के निकट की दिखायी देती है। जैसे कि 'मैला आँचल' में फणीश्वरनाथ रेणुजी ने मिथिला पृष्ठभूमि को सामने रखा है। मेनारियाजी ने भी कहा है – ''रासो ग्रन्थ, जिनको वीरगाथा नाम दिया गया है, जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को सूचित नहीं करते, केवल

भाट, चारण आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं।''[4] लेकिन यह दृष्टि अधूरी है।

अपभ्रंश भाषा का लोप वैज्ञानिक-औद्योगिक प्रवृत्ति एवं व्यापार-दृष्टि से शहरीकरण (ग्राम-मंडियों का विकास) एवं वैचारिक, भौतिक-सुख से संपन्न होने के कारण होने लगा। राजाश्रित कवियों को भाषागत संरक्षण मिलने की परंपरा से भी अपभ्रंश भाषा का स्वरूप, अंचल की भाषा से भी कम होने लगा। वस्तुत: यह दृष्टि भ्रांति एवं शोध के अपूर्ण साधन से उत्पन्न हुई-सी लगती है। चाणक्य-नीति के मराठीमूल में तत्सम शब्दों की प्रचुरता इस बात का द्योतक है कि अपभ्रंश भाषा ग्यारहवीं शताब्दी तक आते-आते व्यावहारिक लोकभाषा के रूप में पहचानी जाने लगी।[5]

कवि राजशेखर के अनुसार पूर्व की ओर प्राकृतिक भाषा के कवि उनके पीछे तट, नर्त्तक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर हैं तो पश्चिम की ओर अपभ्रंश भाषा के कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदि।[6]

डॉ. नामवरसिंह के अनुसार – ''अपभ्रंश काव्य की भाषा में ध्वन्यात्मक शब्द प्रयुक्त हुए हैं और भावानुकूल शब्द-योजना तथा अर्थ की व्यंजना के लिए तदनुकूल ध्वनि शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा चलती हुई, आकर्षक है। इसी लोक तत्त्व के द्वारा अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया।''[7]

''अपभ्रंश के उत्तरकाल में देश की जैसी स्थिति थी वैसी ही पुरानी हिन्दी के प्रारंभिक युग में थी। अपभ्रंश का उपलब्ध साहित्य प्राकृत के समान है, मधुर तथा काव्यात्मक सौंदर्य से अनुरंजित है।''[8]

जैन अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण

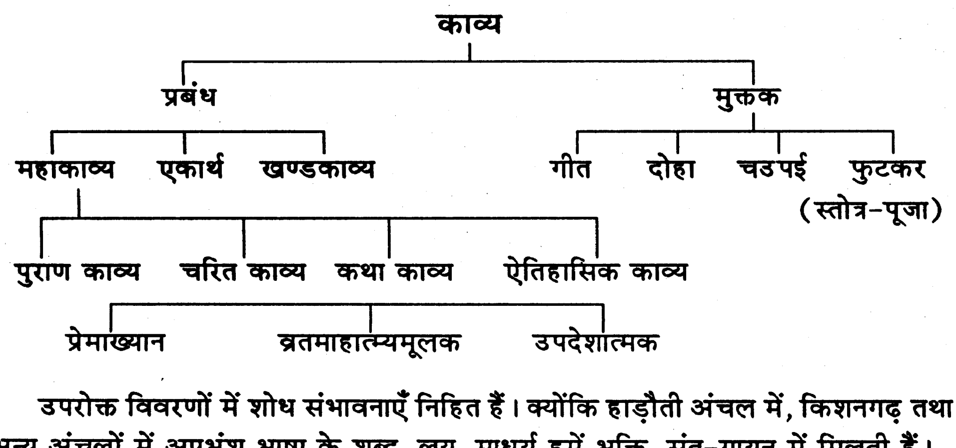

उपरोक्त विवरणों में शोध संभावनाएँ निहित हैं। क्योंकि हाड़ौती अंचल में, किशनगढ़ तथा अन्य अंचलों में अपभ्रंश भाषा के शब्द, लय, माधुर्य हमें भक्ति, संत-गायन में मिलती हैं।

अपभ्रंश भाषा आज भी जीवित है। व्याकरणिक-भाषा से अलग। अवहट्ट अपभ्रंश कीर्तिलता में गद्य-पद्य दोनों का संयुक्त प्रयोग देखकर विद्वानों ने इसे 'चम्पू' कहा। यही चम्पू काव्य परंपरा

हमें मलयालम भाषा की 'कलकाँची', 'मणिकांची', 'पर्यस्तकांची' तथा मिश्र काकली, ये सब काकली के भेद हैं, में मिलती है।[9]

'रामचन्द्र विलास' महाकाव्य, अषकत्तु श्री पद्मनाभक्कुरूप की रामायण-प्रसंग पर आधारित है। जो मलयाली ईरा के 1092वें साल में पहली बार प्रकाशित हुआ। वहीं श्रीं पन्नलं केरल वर्मा का 'रूक्मांगद-चरित्र' महाकाव्य मलयालम ईरा के 1063 में पूरा हुआ तथा 1097 में प्रकाशित हुआ। इसमें रूक्मांगद और मोहिनी की प्रणयकथा वर्णित है।[10]

तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हमें बहुत से अछूते संदर्भ प्राप्त होते रहे हैं, होते रहेंगे। क्योंकि भ्रमणशील प्रवृत्ति के कारण जब एक प्रांत का व्यक्ति दूसरे प्रांत में जाता है, रहता है, तब अपने साथ मूल में, व्यवहार में, भाषा-संस्कार, वेशभूषा, पर्व, सभी कुछ ले जाता है। अपभ्रंश भाषा का स्वरूप मलयालम, कन्नड़, मराठी, संस्कृत सभी में निहित हो सकता है।

भाषा-दृष्टि से सर्वेक्षण की व्यापकता की आवश्यकता है। महाराष्ट्र के 'लातूर' क्षेत्र में भी बोली जाने वाली भाषा में ब्रजभाषा, बघेली, राजस्थानी, मराठी की मिश्रित भाषा प्रयुक्त होती दिखायी देती है तथा शिरडी गाँव में भी तत्सम, अनुप्रास, यमक शब्दों की प्रचुरता दिखायी देती है।

इस प्रकार से हम भाषा विकास में अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ खोज सकते हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 32, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
2. वही, पृ. 33 ।
3. हिन्दी साहित्य, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 35 ।
4. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 35-36, डॉ. जयकिशन प्रसाद, विनोद पुस्तक मन्दिर, रांगेय राघव मार्ग, आगरा-2 ।
5. भक्तमाल, कवि नाभादास, मराठी-बंगला में अनुवाद ।
6. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 30, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
7. हिन्दी काव्य धारा, पृ. 50, डॉ. नामवर सिंह ।
8. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 44, डॉ. जयकिशन प्रसाद ।
9. हिन्दी और मलयालम के काव्यरूप, पृ. 175, डॉ. वी. आर. कृष्ण नायर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-110007 ।
10. वही, पृ. 179 ।

8/263, मालवीय नगर
जयपुर-302 017 (राज.)

दीसइ उययसिहरें रविकेसरि

छुड्डु छुड्डु रत्तचूलवासिय किर, छुड्डु पचलिय पवासिय।
उड्डिय कायसद्द भयवेविर, छुड्डु णिल्लुक्क कोसिय।
ता जगसरवरम्मि, णिसि कुमुइणि, उड्डु पप्फुल्लकुमुयउब्भासिणि।
उम्मूलिय पच्चूसमयंगे, गमु सज्जिउ ससिहंसविहंगें।
बहलतमंधयारवारणअरि, दीसइ उययसिहरें रविकेसरि।
पुव्वदिसावहूहि अरुणच्छवि, लीलाकमलु व उब्भासइ रवि।
सोहम्माइकप्पफलु जोयहो, कोसुमगुंछु व गयणासोयहों।
दिणसिरिविद्दुमवेल्लिहें कंदु व, णहसिरि घुसिणललामय बिंदु व।

सुदंसणचरिउ, 5.10

– रक्तचूड़ (मुर्गे) द्वारा संकेत पाकर प्रवासी चल पड़े। कौवों के शब्द उठे और शीघ्र ही भय से काँपते हुए कौशिक (उल्लू) छिप गये। तभी जगरूपी सरोवर से तारारूपी प्रफुल्ल कुमुदों से उद्भासित रात्रिरूपी कुमुदिनी को प्रत्यूषरूपी मातंग ने उन्मूलित कर डाला। शशिरूपी हंस पक्षी ने गमन की तैयारी की। सघनतम अंधकाररूपी गज का वैरी रविरूपी सिंह उदयाचल के शिखर पर दिखाई दिया। पूर्व दिशारूपी वधू के लीलाकमल के सदृश अरुणवर्ण रवि उदित हुआ। जैसे मानो योग का सौधर्म आदि स्वर्गरूप फल हो, गगनरूपी अशोक का पुष्पगुच्छ हो, दिनश्रीरूपी प्रवाल की बेल का कंद हो तथा नभश्री के भाल का केसरमय ललामबिन्दु हो।

अनु. – डॉ. हीरालाल जैन

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक
अपभ्रंश भारती
अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर-302004